

संविधान और मुसलमान

अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान



संविधान और
मुसलमान

संविधान और मुसलमान

अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान

भूमिका

जब कोई आम आदमी सुनता है कि संविधान में मुसलमानों के लिए क्या है, तो उसके पीछे अपनी जिंदगी की कोई छिपे हुई बात है। किसी को बालों की पड़ाई की परेशानी है, किसी को नौकरी का मौका चाहिए और कोई अपनी पहचान पर उठते सवाल से बेचैन है। ऐसे में उसे किसी अनुच्छेदों के नंबर बता देना काफी नहीं। उसे यह समझना है कि कितना बड़ा सिलेब्रिटी है वह जिसकी अपनी जिंदगी में कहाँ और कैसे काम आते हैं।

मेरी ख्वाहिश है कि पाठक अपने हक को पहचानें, उसकी हद समझें और अपनी परेशानी सही जगह रख सकें। हमारे सब्बों को इज्जत और आगे बढ़ने के नेतृत्व में ले लें, इसी उम्मीद के साथ यह सफर शुरू होता है। यह जानकारी अलग-अलग जमानों में होगी, तो लगाता लोग उसे पहचान अपनी नौबतों की जिंदगी में बताना भी सकेंगे।

डॉ. सैयद नासिर शाह

Qalamse.com

संविधान और मुसलमान

अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान

लेखक : डॉ. सैयद नासिर शाह

© 2026, डॉ. सैयद नासिर शाह

Published By : Qalamse.com (Official Website)

**इस संस्करण में कानून और आँकड़ों की चर्चा 5 अक्टूबर 2026 तक इस्तेमाल किए गए चुने हुए दस्तावेज़ों पर आधारित है।

पाठकों के लिए सूचना: आपत्ति एवं सुधार

इस पुस्तक, “संविधान और मुसलमान: अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान”, का उद्देश्य अध्ययन और संवाद है। किसी व्यक्ति, संस्था या समुदाय की प्रतिष्ठा को अनुचित ठेस पहुँचाना लेखक एवं प्रकाशक का उद्देश्य नहीं है।

किसी कथन, तथ्य या उल्लेख पर आपत्ति होने पर संबंधित पृष्ठ संख्या, स्पष्ट विवरण और उपलब्ध प्रमाण सहित नीचे दिए ईमेल पर लिखें। शिकायत पर निष्पक्षता से विचार किया जाएगा। त्रुटि प्रमाणित होने पर आवश्यक स्पष्टीकरण दिया जाएगा, संशोधन किया जाएगा अथवा संबंधित अंश हटाया जाएगा। ये सुधार आगामी संस्करण और उपलब्ध डिजिटल संस्करण में यथासंभव किए जाएँगे।

न्यायिक कार्रवाई से पहले संवाद और सुधार का अवसर देने का निवेदन है। यह अनुरोध किसी के वैधानिक अधिकार, कानूनी समय-सीमा या तत्काल न्यायिक राहत को सीमित नहीं करता।

नोट: देवबंद, जिला सहारनपुर, उत्तर प्रदेश के सक्षम न्यायालयों में विवाद के निपटारे का आग्रह लागू कानून और उनके क्षेत्राधिकार के अधीन है।

लेखक: डॉ. सैयद नासिर शाह

प्रकाशक: Qalamse.com

आपत्ति एवं सुधार हेतु ईमेल: Redox55@gmail.com

इंतिसाब

यह किताब, **“संविधान और मुसलमान: अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान”**, जिसमें अपने वतन, अपने अधिकारों और इंसान की उम्मीद से जुड़े सवालों को समझने की कोशिश की गई है, मैं निहायत मोहब्बत और अकीदत के साथ मंसूब करता हूँ—

अपने मरहूम वालिद जनाब **डॉ. सैयद मशहूद अली साहब** और अपनी शफ़ीक़ वालिदा मोहतरमा **सबीहा जबीन साहिबा** के नाम, जिनकी पाकीज़ा तरबियत और दुआओं ने मुझे हक़ और सच की राह पर चलने का हौसला बख़्शा।

अपने अज़ीज़ मरहूम बड़े भाई **डॉ. सैयद यासिर यज़दानी** के नाम, जिनकी बे-लौस मोहब्बत और यादें मेरे दिल का क़ीमती सरमाया हैं। उनकी जुदाई का दर्द आज भी साथ है और उनकी याद हर नए पड़ाव पर दिल के और करीब आ जाती है।

अपनी शरीक-ए-हयात **रुख़सार नासिर** और **नाबिश** के नाम, जिन्होंने इस लंबे फ़िक़्री सफ़र में सब्र, मोहब्बत और भरोसे के साथ मेरा साथ निभाया।

और अपनी तीनों बेटियों, **सय्यदा ज़ैनब फ़ातिमा**, **अज़ीज़ा ज़हरा मरवा** और **अज़ीज़ा इरहा हयात** के नाम—इस दुआ और उम्मीद के साथ कि वे ऐसे हिंदुस्तान में परवान चढ़ें, जहाँ उनकी पहचान का एहताराम हो, तालीम के रास्ते खुले हों और बराबरी तथा इंसान का वादा उनकी ज़िंदगी में भी पूरा होता दिखाई दे।

डॉ. सैयद नासिर शाह

तशक्कुर – शुक्रिया नामा

इस किताब “संविधान और मुसलमान: अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान” को पाठकों तक पहुँचाने में सहयोग के लिए मैं **Qalamse.com** और उसकी पूरी टीम का दिल से शुक्रिया अदा करता हूँ। उन्होंने इस किताब को अपनी वेबसाइट पर प्रकाशित करने के लिए जो मदद की और जिस अपनाइयत से इस काम में साथ दिया, उसकी मेरे लिए बहुत क़द्र है।

एक लेखक के लिए यह बड़ी खुशी की बात है कि उसके लिखे हुए अल्फ़ाज़ को पाठकों तक पहुँचने का रास्ता मिले। **Qalamse.com** की टीम ने इस कोशिश में मेरा साथ देकर मेरी मेहनत और मेरे मक़सद को हौसला दिया है। मेरी ख़्वाहिश है कि यह किताब लोगों तक पहुँचे और संविधान, अधिकारों तथा बदलते हिंदुस्तान से जुड़े सवालों को समझने में काम आए। इस सहयोग और भरोसे के लिए मैं **Qalamse.com** की पूरी टीम का तहेदिल से ममनून हूँ। दुआ है कि उनका यह सफ़र आगे बढ़ता रहे और उनकी कोशिशों से लेखकों को अपनी बात कहने तथा पाठकों को अच्छी किताबें पढ़ने के अवसर मिलते रहें।

डॉ. सैयद नासिर शाह
लेखक / विचारक

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	8
भाग एक – आज़ादी से संविधान तक	11
1. 1947 का हिंदुस्तान और मुसलमानों के सवाल	11
2. संविधानसभा और अल्पसंख्यक अधिकार	19
3. 1950 का संविधान और अल्पसंख्यक संरक्षण	28
भाग दो – संविधान में दर्ज अधिकार	38
4. बराबरी, भेदभाव और सरकारी रोज़गार	38
5. मज़हब की आज़ादी और संवैधानिक सीमाएँ	47
6. भाषा, संस्कृति, उर्दू और तालीम	56
7. अल्पसंख्यक तालीमी संस्थाएँ	65
भाग तीन – कानून और उनकी बदलती शक्ल	74
8. मुस्लिम पर्सनल लॉ की कानूनी बुनियाद	74
9. शाह बानो, 1986 का कानून और भरण-पोषण	84
10. तीन तलाक़ और 2019 का कानून	94
11. वक्फ़ कानून: 1995 और 2025 तक बदलाव	104
12. नागरिकता कानून और उसके संशोधन	115
भाग चार – हिस्सेदारी और सरकारी नीतियाँ	126
13. राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की भूमिका	126
14. पिछड़े मुस्लिम समुदाय, OBC और अनुसूचित जाति	137
15. सच्चर समिति और सरकारी कदम	148
16. छात्रवृत्ति, तालीम, रोज़गार और विकास योजनाएँ	159
भाग पाँच – आज का हिंदुस्तान	170
17. आबादी, तालीम, रोज़गार और प्रतिनिधित्व	170
18. 2026 तक कानूनी स्थिति और आगे के सवाल	178
परिशिष्ट – कानून, शब्दावली और मूल स्रोत	186
एक – कानूनवार समयरेखा	186
दो – कानूनी शब्दों की आसान व्याख्या	192
तीन – मूल दस्तावेज़ और स्रोत सूची	196

संविधान और मुसलमान अधिकार, कानून और बदलता हिंदुस्तान

भूमिका

जब कोई आम आदमी पूछता है कि संविधान में मुसलमानों के लिए क्या है, तो उसके पीछे अपनी ज़िंदगी की कोई फ़िक्र होती है। किसी को बच्चे की पढ़ाई की परेशानी है, किसी को नौकरी का मौका चाहिए और कोई अपनी पहचान पर उठते सवाल से बेचैन है। ऐसे में उसे सिर्फ़ अनुच्छेदों के नंबर बता देना काफ़ी नहीं। उसे यह समझना है कि किताब में लिखे हक़ उसकी अपनी ज़िंदगी में कहाँ और कैसे काम आते हैं।

मैंने इस किताब की शुरुआत इसी ज़रूरत से की है। संविधान हमारे मुल्क को चलाने और नागरिकों के हक़ की हिफ़ाज़त का बुनियादी दस्तावेज़ है। उसे समझने का हक़ सिर्फ़ वकीलों या कानून के जानकारों का नहीं। रोज़ मेहनत करके कमाने वाला आदमी, कॉलेज जाता नौजवान, घर की ज़िम्मेदारी सँभालती महिला और हमारे बुजुर्ग भी इसके बारे में पूछ सकते हैं। अपनी ज़बान में सवाल करना समझ की शुरुआत है। किसी मुश्किल लफ़्ज़ का मतलब पूछने में झिझक कैसी?

इस किताब में मुसलमानों की बात हिंदुस्तान के दूसरे नागरिकों के साथ उनके रिश्ते को ध्यान में रखकर होगी। बराबरी सबका हक़ है। साथ ही कुछ संवैधानिक प्रावधान मज़हबी और भाषाई अल्पसंख्यकों की खास ज़रूरतों से जुड़े हैं। दोनों बातें समझना ज़रूरी है। हम अपनी आस्था और पहचान की इज़्ज़त चाहते हैं, तो दूसरे की आस्था और इंसानी इज़्ज़त का खयाल भी रखें। मिलकर रहने की ज़िम्मेदारी हमारी आवाज़ को भरोसा देती है।

आगे आज़ादी, संविधानसभा, अधिकारों और बाद में बने कानूनों की बात आएगी। अदालतों के फ़ैसले और सरकारी रिपोर्ट भी पढ़ेंगे। मेरी राय और असल दस्तावेज़ में दर्ज बात का फ़र्क़ साफ़ रहेगा। पाठक मेरी बात पर सोच सके और चाहे तो उसका आधार खुद देख सके, यही कोशिश है।

मेरी ख्वाहिश है कि यह किताब पढ़कर आदमी अपने हक़ को पहचाने, उसकी हद समझे और अपनी परेशानी सही जगह रख सके। हमारे बच्चों को इज़्ज़त और आगे बढ़ने के बेहतर मौके मिलें, इसी उम्मीद के साथ यह सफ़र शुरू होता है। यह जानकारी आसान ज़बान में होगी, तो ज़्यादा लोग उसे पढ़कर अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में बरत भी सकेंगे।

किसी बैठक में संविधान का ज़िक्र आते ही दो तरह की बातें सुनाई देती हैं। कोई कहता है कि सब ठीक है, फ़िक्र की ज़रूरत नहीं। कोई तस्वीर ऐसी बनाता है जैसे हर रास्ता बंद हो गया हो। बीच में बैठा आम आदमी अपनी परेशानी लिए रह जाता है। उसे समझ नहीं आता कि किस बात पर यक़ीन करे, किससे पूछे और क्या कदम उठाए।

हक़ का कानून में लिखा होना और उसका आसानी से इस्तेमाल कर पाना अलग बातें हैं। स्कूल तक पहुँचने, दफ़्तर में सुनवाई होने और अदालत तक जाने में अपनी मुश्किलें होती हैं। उन मुश्किलों पर बात करने से संविधान की अहमियत कम नहीं होती। उसके बताए हक़ समझकर ही हम पूछ पाएँगे कि सरकारी इंतज़ाम अपनी ज़िम्मेदारी कहाँ निभा रहा है और कहाँ कमी रह गई है। सवाल का आधार मालूम हो, तो बात साफ़ रखी जा सकती है।

मुस्लिम समाज के भीतर भी हर घर की हालत एक जैसी नहीं। शहर और गाँव की ज़िंदगी अलग है। किसी परिवार में पढ़ाई के साधन हैं, किसी में बच्चे जल्दी काम पर लग जाते हैं। महिलाओं और पुरुषों के सामने आने वाली मुश्किलें भी अलग हो सकती हैं। पेशा, आमदनी और घर का माहौल असर डालते हैं। किसी एक आदमी का अनुभव पूरे समाज की कहानी नहीं बन जाता। दूसरी आवाज़ों को सुनने की जगह भी रखनी होगी।

हमारी अपनी ज़िम्मेदारियाँ भी हैं। बच्चों की तालीम पर ध्यान देना, महिलाओं की बात सुनना और फैलाई जा रही ग़लत जानकारी को जाँचना हमारे काम हैं। मगर इससे सरकार और उसके दफ़्तरों की ज़िम्मेदारी ख़त्म नहीं हो जाती। नागरिक की मेहनत के साथ संस्थाओं से जवाब भी माँगा जाएगा। समाज की कमी बताकर सरकारी लापरवाही छोड़ देना, या सरकार की कमी बताकर अपना काम छोड़ देना, दोनों से परेशानी बनी रहेगी।

इसीलिए इस किताब में रोज़मर्रा की ज़िंदगी और कानून का रिश्ता समझने की कोशिश है। किसी ख़बर पर राय बनाने से पहले उसका आधार देखें। मतभेद के बीच भी बातचीत में अदब रहे। अगली नस्ल को अपने मुल्क में ज़िम्मेदारी निभाने और सवाल पूछने का हौसला मिले।

इस किताब को शुरुआत से पढ़ेंगे, तो एक बात का रिश्ता दूसरी बात से आसानी से समझ आएगा। पहले आज़ादी का दौर और संविधान बनने की बुनियाद देखेंगे। फिर बराबरी, मज़हब की आज़ादी, भाषा और तालीम के हक़ पर बात होगी। इसके बाद परिवार, वक्फ़ और नागरिकता से जुड़े कानून आएँगे। आखिर में संस्थाओं, सरकारी योजनाओं और समाज की हालत को देखेंगे। यह क्रम इसलिए रखा है कि आगे का सवाल समझने से पहले उसकी ज़मीन साफ़ हो जाए।

तारीखों को पढ़ते हुए थोड़ी सावधानी रखिए। किसी कानून के बनने का साल और उसके लागू होने का दिन अलग हो सकता है। अदालत की सुनवाई, बीच में दिया गया आदेश और आखिरी फ़ैसला भी अलग पड़ाव हैं। रिपोर्ट जिस साल जारी हुई, उसके सारे आँकड़े उसी साल के हों, यह ज़रूरी नहीं। पाठक को हर तारीख़ रटनी नहीं है। उसे यह पहचानना है कि तारीख़ किस घटना या दस्तावेज़ की है। इससे गलतफ़हमी से बचने में मदद मिलेगी।

जहाँ रोज़ की ज़िंदगी की कोई मिसाल दी गई है, उसे किसी खास परिवार की साबित घटना न समझें। मिसाल बात खोलने के लिए है। जहाँ किसी दस्तावेज़ की बात है, उसका नाम और तारीख़ स्रोतों में मिलेंगे। मेरी सामाजिक राय से आपका सहमत होना ज़रूरी नहीं। मगर असल कागज़ में क्या लिखा है, यह देखना अपनी जगह अहम है। राय और दस्तावेज़ का फ़र्क़ याद रखेंगे, तो पढ़ने में आसानी रहेगी।

किसी निजी परेशानी का जवाब उसके पूरे हालात और उससे जुड़े कागज़ देखकर मिलेगा। यह किताब आम समझ बढ़ाने का सहारा है। हर मामले में एक ही सलाह लागू नहीं होती। अपनी बात लिखकर रखना, तारीखें सँभालना और मिले हुए आदेश पढ़ना अच्छी आदतें हैं। किसी के नाम या मज़हब से उसके सारे हक़ और ज़िम्मेदारियों का फ़ैसला नहीं किया जा सकता।

मेरी पाठकों से दरखास्त है कि पढ़ते हुए सोच खुली रखें। कोई पुराना खयाल बदल सकता है, कोई नया सवाल उठ सकता है। अपना हक़ समझने के साथ दूसरे के हक़ की पहचान भी हो। आगे इसी नज़र से संविधान और अपनी ज़िंदगी के बीच का रिश्ता समझेंगे।

भाग एक – आज़ादी से संविधान तक

अध्याय 1 – 1947 का हिंदुस्तान और मुसलमानों के सामने खड़े सवाल

15 अगस्त 1947 को हिंदुस्तान आज़ाद हुआ। यह अंग्रेज़ी हुकूमत से आज़ादी का ऐतिहासिक मौका था, लेकिन लोगों का अनुभव सिर्फ़ जश्न तक सीमित नहीं था। बँटवारे की हिंसा, उजड़ते घर और टूटते रिश्ते भी उसी वक़्त की सच्चाई थे। किसी घर में उम्मीद का उजाला था, किसी में बिछड़ने का डर। इस दौर को समझने के लिए आज़ादी की खुशी और इंसानी नुकसान, दोनों को साथ देखना होगा। एक को सामने रखकर दूसरे की याद नहीं मिटाई जा सकती।

देश की सीमाएँ बदलने के साथ लोगों की ज़िंदगी में बड़े बदलाव आए। कुछ परिवार अपने पुराने घरों से निकले, कुछ ने रास्ते में अपने लोगों को खोया, कुछ वहीं रहे जहाँ उनकी कई पीढ़ियाँ रही थीं। पंजाब और बंगाल के अनुभव भी पूरी तरह एक जैसे नहीं थे। वक़्त, रास्ते और स्थानीय हालात अलग थे। इसलिए विभाजन की कहानी को सिर्फ़ नक्शे पर खींची रेखा का नाम देना उसके इंसानी असर को बहुत छोटा कर देना होगा। किसी जगह लौटने की उम्मीद बची थी, तो कहीं लोगों को अपनी नई ज़िंदगी बसाने की शुरुआत करनी पड़ी।

भारत में रहने वाले मुसलमानों के सामने अपने आने वाले दिनों के सवाल थे। वे अपने परिवार, अपने काम और अपनी जानी-पहचानी दुनिया के साथ आगे जीना चाहते थे। लेकिन आसपास की हिंसा और राजनीतिक तनाव से एक दूसरे पर भरोसा करना मुश्किल था। हर इंसान के अपने हालात थे। किसी एक नेता की बात या किसी एक शहर की घटना पूरे मुसलमान समाज की इच्छा का सबूत नहीं बन सकती। आम परिवार की ज़िंदगी को उसकी अपनी जगह से समझना ज़रूरी है।

इन्हीं हालात में साझा नागरिक व्यवस्था की ज़रूरत ज़्यादा साफ़ दिखाई देती है। सिर्फ़ हुकूमत बदलने से लोगों का भरोसा पूरा नहीं हो जाता। सरकारी रवैया, सुरक्षा और आगे मिलने वाले अधिकारों का आधार भी अहम है। नया हिंदुस्तान किस तरह सबको अपने सार्वजनिक जीवन का हिस्सा मानेगा, यह बड़ा सवाल था। संविधान की बात तक पहुँचने से पहले हमें उस परिवार की चिंता याद रखनी चाहिए जो पहले अपने ही घर और अपने बच्चों को सुरक्षित देखना चाहता था।

विभाजन की हिंसा को पढ़ते हुए सबसे ज़रूरी बात किसी इंसान की तकलीफ़ को उसके मज़हब से छोटा न करना है। हिंदू, मुस्लिम और सिख परिवारों में उजड़ने और बिछड़ने के अनुभव थे। लेकिन किसी समुदाय पर गुज़री तकलीफ़ उसके हर व्यक्ति की कहानी नहीं बनती। अलग क्षेत्रों में हालात और नुकसान अलग रहे। इतिहास को हमदर्दी से पढ़ने का मतलब यह है कि हम पीड़ित की पहचान स्वीकार करें और उसके दर्द को सियासत का ज़रिया न बनाएँ।

किसी जगह अपराध हुआ हो, तो उसके ज़िम्मेदार व्यक्ति और घटना की जाँच का सवाल सामने आता है। पूरे समुदाय को अपराधी कहना उससे अलग बात है। पूरे समुदाय पर इल्ज़ाम उन लोगों पर भी बोझ डाल देता है जिन्होंने उस घटना में हिस्सा नहीं लिया। यही आदत अगली पीढ़ी तक शक पहुँचाती है। हम इतिहास से सीखना चाहते हैं, तो अपराध की ज़िम्मेदारी और किसी आम व्यक्ति की पहचान के बीच फ़र्क़ बनाए रखना होगा। जिनकी खबर नहीं मिली, उनका इंतज़ार परिवार की ज़िंदगी का हिस्सा रहा; बिछड़ने का अनुभव सिर्फ़ सीमा पार करने की तारीख में नहीं समाता।

ऐसे समय में अफवाह का असर भी गंभीर हो सकता है। किसी सुनाई गई बात पर भरोसा टूटता है, डर बढ़ता है और पड़ोस का रिश्ता अचानक संदिग्ध लगने लगता है। यह आम सामाजिक समझ है, किसी एक घटना का बिना सबूत वाला ब्योरा नहीं। इतिहास पढ़ते हुए लिखित रिकॉर्ड और सुनी हुई कहानी अलग पहचाननी चाहिए। कोई कहानी परिवार की याद हो सकती है; उसकी कद्र करते हुए भी बड़े सार्वजनिक दावे के लिए उसके आधार की जाँच ज़रूरी होगी।

आज का पाठक इस इतिहास से यह सीख सकता है कि इंसानी सुरक्षा को पहचान के मुकाबले में नहीं रखना चाहिए। किसी दूसरे का दर्द मानने से अपनी तकलीफ़ छोटी नहीं हो जाती। इंसान और बराबरी की इच्छा तभी टिकेगी जब उसका आधार सबके लिए हो। 1947 का अनुभव नए राज्य के लिए भी भरोसा बनाने की चुनौती था। आगे संविधान में सार्वजनिक व्यवस्था को अधिकारों से बाँधने की बात समझते समय हम इसी इंसानी ज़रूरत को ध्यान में रखेंगे।

हिंदुस्तान में मुसलमानों की मौजूदगी किसी एक इलाके, ज़बान या पेशे तक सीमित नहीं थी। उत्तर के शहर और गाँव, बंगाल, दक्कन और दक्षिण के क्षेत्रों में उनके सामाजिक संबंध थे। किसी का काम खेती से जुड़ा था, किसी का दस्तकारी से, कोई व्यापार या पढ़ाई में था। इन फ़र्कों को समझे बिना 1947 के बाद उनके सामने के सवाल को एक ही अनुभव में समेट देना मुनासिब नहीं होगा। इलाके के साथ परिवार की हालत भी अलग होती थी।

किसी व्यक्ति का अपने शहर से संबंध सिर्फ़ धर्म का संबंध नहीं होता। वहाँ उसकी बोली, उसके पड़ोसी, काम के ग्राहक और घर की यादें होती हैं। कोई किसान ज़मीन से जुड़ा है, कोई कारीगर अपने हुनर के बाज़ार से। राजनीतिक सीमा बदलने का सवाल इन रिश्तों पर भी असर डालता है। इसलिए रहने या निकलने के अनुभव को सिर्फ़ किसी विचार का ऐलान मानकर समझना अधूरा होगा। लोगों की ज़िंदगी में जज़्बाती और रोज़मर्रा के कारण साथ होते हैं। बुजुर्ग और नौजवान साथ रहकर मुस्तक़बिल को अलग तरह देख सकते थे; परिवार में बातचीत की ज़रूरत बनी थी।

इसी तरह पढ़ाई और आर्थिक साधनों की स्थिति भी सबकी एक जैसी नहीं थी। साधन वाला परिवार किसी बदलाव का सामना अलग तरीके से कर सकता है, जबकि कमज़ोर परिवार की गुंजाइश कम हो सकती है। यह बात मुसलमान समाज के भीतर के फ़र्क़ समझने के लिए है। यहाँ किसी परिवार के फैसले की कहानी नहीं सुनाई गई। हमें आम बात कहते हुए देखना होगा कि उससे किसकी आवाज़ सामने आती है और किसका अनुभव छूट जाता है।

साझा नागरिकता की ज़रूरत इसी विविधता के बीच समझ आती है। एक व्यक्ति को सिर्फ़ अपने समूह का प्रतिनिधि मानकर नहीं, अपनी इज़्ज़त और अपने सवाल रखने वाले इंसान की तरह देखना होगा। मुसलमान समाज की चर्चा में उसका नाम आता है, मगर उसकी सारी ज़िंदगी उसी नाम में खत्म नहीं होती। आगे के अध्यायों में सांस्कृतिक पहचान का संरक्षण और आम नागरिक अधिकार साथ आएँगे। उन्हें समझने की शुरुआत यह मानने से है कि समाज के भीतर कई तरह की ज़िंदगियाँ हैं।

विभाजन की चर्चा में भारत में रहने वाले मुसलमानों के बारे में कभी आसानी से यह कह दिया जाता है कि सभी ने एक ही फैसला एक ही कारण से किया। असल ज़िंदगी इतनी सीधी नहीं होती। परिवार, ज़मीन, रिश्ते, सुरक्षा, रोज़गार और राजनीतिक समझ का संबंध अलग हो सकता है। सभी के लिए एक वजह तय कर देना इतिहास की उलझनों को नज़रअंदाज़ करता है। इसलिए किसी व्यक्ति की नागरिक हैसियत पर अपने अंदाज़ों का बोझ नहीं रखना चाहिए।

जो परिवार यहाँ रहे, उनकी ज़िंदगी इसी मुल्क के घरों, गलियों और काम से जुड़ी रही। उनके बच्चों का मुस्तक़बिल भी यहीं बनना था। लेकिन सिर्फ़ इस बात का ज़िक्र नागरिकता के हर कानूनी सवाल का जवाब नहीं है। आगे संविधान की आरंभिक नागरिकता व्यवस्था और बाद के कानूनों का फ़र्क़ देखेंगे। यहाँ मुद्दा यह पहचानना है कि भारत में मौजूद मुसलमान एक जैसे हालात वाला समूह नहीं थे; उनकी अपनी स्थानीय और पारिवारिक दुनिया भी थी। पड़ोस में साथ रहने वाले परिवारों का संबंध राजनीतिक भाषण के किसी एक वाक्य से पूरा समझा नहीं जा सकता।

किसी नागरिक से सिर्फ़ मज़हब के कारण बार-बार अपनी वफ़ादारी साबित करने की उम्मीद साझा भरोसे को कमज़ोर कर सकती है। ज़िम्मेदारी का सवाल सबके लिए कानून के आधार पर होना चाहिए। यह नागरिक ज़िंदगी पर लेखक की राय है, किसी व्यक्ति के मामले में दिया गया फैसला नहीं। सार्वजनिक जीवन में काम, व्यवहार और कानून से संबंध देखना होगा। सिर्फ़ नाम देखकर दोष, विश्वास या पात्रता तय करना उस इंसान की असल स्थिति से दूर जाना होगा।

हम अपने इतिहास को समझते हुए इस बात पर ठहर सकते हैं कि भरोसा कैसे बनता है। कोई सरकार सबको अपनी व्यवस्था का हिस्सा माने, कोई अधिकारी कारण के साथ निर्णय दे और समाज दूसरे की गरिमा स्वीकार करे, तो साथ रहने की ज़मीन मज़बूत होती है। इतिहास का सवाल सिर्फ़ यह नहीं कि कौन कहाँ गया। यह भी है कि जो लोग साथ रहे, उनके लिए बराबरी और सुरक्षा का सार्वजनिक आधार किस तरह बनाया गया। संविधान की चर्चा इसी सवाल तक पहुँचती है।

आज़ादी के बाद राज्य के सामने व्यवस्था और भरोसा, दोनों की चुनौती थी। हिंसा रोकना, उजड़े लोगों की मदद और रोज़मर्रा के सरकारी काम सँभालना बड़ी ज़रूरतें थीं। किसी आम परिवार के लिए आज़ाद देश का मतलब अपने आसपास के अनुभव से बनता था। क्या घर सुरक्षित है, क्या काम पर जा सकते हैं और क्या ज़रूरत होने पर प्रशासन सुनेगा? इन सवालों का जवाब सिर्फ़ जश्न के भाषण से नहीं मिलता। अमल भी दिखाई देना चाहिए।

मुसलमान परिवार की चिंता को इन हालात में सुनना ज़रूरी है। सुरक्षा की ज़रूरत को किसी खास एहसान की माँग नहीं समझना चाहिए। नागरिक जीवन में डर कम होना साझा व्यवस्था की ज़िम्मेदारी है। यदि व्यक्ति अपने नाम या पहचान के कारण असुरक्षित महसूस करता है, तो उसके सवाल को सुनना होगा। कारण और घटना की जाँच ज़रूरी होगी। उसकी बात सुनना और बिना सबूत के किसी इल्ज़ाम को सच मानना अलग बातें हैं। अपनी बात कहने का अवसर न मिले तो मदद माँगने वाला परिवार भी बेबस महसूस करेगा; सुनवाई का सम्मान भरोसे का हिस्सा था।

मोहल्ले के रिश्ते भी यह भरोसा बनाने में मदद करते हैं। पड़ोस में एक दूसरे की खबर लेना, किसी अफवाह के फैलने पर जाँच करना और परेशानी में सहायता देना इंसानी फ़र्ज़ हैं। लेकिन राज्य की ज़िम्मेदारी इन रिश्तों के भरोसे छोड़ नहीं दी जा सकती। दोस्ती ज़रूरी है, लेकिन हक़ की जगह नहीं ले सकती। व्यक्ति को कानून और संस्था का सहारा भी चाहिए, ताकि उसका सम्मान सिर्फ़ किसी ताक़तवर आदमी की मेहरबानी पर निर्भर न रहे।

इसलिए संविधान की ज़रूरत अच्छे इरादे लिखने तक सीमित नहीं थी। सत्ता को सार्वजनिक आधार से बाँधना और व्यक्ति को अपनी बात रखने की जगह देना ज़रूरी था। आगे अधिकारों की चर्चा में इसी संबंध को देखेंगे। कानून का मक़सद नागरिक को उसके डर के साथ अकेला छोड़ देना नहीं हो सकता। वह व्यवस्था का हिस्सा है, और उसकी सुरक्षा और सम्मान पूरे समाज के सवाल हैं। इतिहास का यह पड़ाव हमें अधिकार की उस ज़रूरत तक ले जाता है जो जीवन के अनुभव से पैदा होती है।

बँटवारे की कहानी में बड़े नेताओं के नाम मिल जाते हैं, लेकिन घर के भीतर सँभाली गई ज़िंदगी का हिसाब उतनी आसानी से सामने नहीं आता। औरतों ने बच्चों की देखभाल की, बिखरे रिश्तों की खबर खोजी और रोज़मर्रा की ज़रूरतों का बोझ उठाया। हिंसा और उजड़ने के अनुभव ने उनकी सुरक्षा तथा सम्मान के गंभीर सवाल भी खड़े किए। इन अनुभवों को समझते हुए हमें उनकी अपनी आवाज़ और इच्छा के लिए जगह रखनी चाहिए।

किसी बच्चे के लिए राजनीतिक नक्शा बदलने का मतलब किताब में छपा नया नाम भर नहीं था। घर, परिचित रास्ता, स्कूल और दोस्तों से दूर होना उसकी दुनिया बदल सकता था। जिन परिवारों पर संकट आया, वहाँ पढ़ाई जारी रखना भी मुश्किल हुआ। इसलिए नए देश की ज़िम्मेदारी सीमाएँ और सरकारी व्यवस्था बनाने के साथ बच्चों के मुस्तक़बिल तक पहुँचती थी। अगली पीढ़ी का भरोसा रोज़ की ज़िंदगी में लौटना था, तभी आज़ादी उसके लिए कोई ठोस मतलब रखती। बच्चे की पढ़ाई टूट जाए तो उसका असर वर्षों तक जा सकता है; उजड़ी ज़िंदगी सँवारने की चर्चा में स्कूल याद रहना चाहिए।

रोज़गार का सवाल भी उसी भरोसे से जुड़ा था। दुकान फिर खोलना, खेती सँभालना या अपने हुनर के लिए ग्राहक खोजना मामूली काम नहीं थे। परिवार को कमाई चाहिए थी, पर काम करने के लिए सुरक्षा और आपसी संबंध भी ज़रूरी थे। हम सभी मुसलमानों का अनुभव एक जैसा मानकर इन ज़रूरतों को नहीं समझ सकते। जिस जगह हिंसा कम थी, वहाँ भी दूसरे इलाकों की खबर से चिंता पहुँच सकती थी; दूसरी जगह सीधा नुकसान झेलना पड़ा।

इन बातों का महत्व सिर्फ़ इतिहास की हमदर्दी तक सीमित नहीं है। वे बताती हैं कि नागरिकता का अनुभव घर की सबसे छोटी ज़रूरत में भी बनता है। महिला की सुनवाई, बच्चे की शिक्षा और परिवार की रोज़ी-रोटी सार्वजनिक ज़िम्मेदारी के सवाल हैं। किसी समाज के हालात समझते समय खुलकर बोलने वालों के साथ उन लोगों तक भी पहुँचना होगा जिनकी बात आसानी से दर्ज नहीं होती। इतिहास की ऐसी पढ़ाई हमें आगे अधिकारों का मतलब ज़्यादा गहराई से समझने का मौका देती है।

नए हिंदुस्तान के सामने यह सवाल भी था कि जनता की तरफ़ से बोलने और निर्णय लेने वाली व्यवस्था कैसी होगी। अंग्रेज़ी हुकूमत के अंत से सत्ता का आधार बदलना था, लेकिन जनता और सत्ता का संबंध नियमों में साफ़ होना ज़रूरी था। संविधानसभा इसी बड़े काम में लगी थी। उसकी बहसों आज़ादी से पहले शुरू हो चुकी थीं और आज़ादी के बाद नए हालात के बीच आगे बढ़ीं। उन्हें पढ़ना देश की संस्थाओं की तैयारी को समझना है।

आज हम मतदान को एक जाने-पहचाने नागरिक अधिकार की तरह देखते हैं। मगर पीछे जाते समय मौजूदा व्यवस्था को हर पुराने वर्ष पर लागू मान लेना ठीक नहीं। संविधान के अनुच्छेद 326 ने लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनावों के लिए वयस्क मताधिकार का आधार रखा। आज़ादी का वर्ष और इस व्यवस्था के तहत हुए पहले आम चुनाव एक ही वक्त की बात नहीं थे। इन तारीखों का फ़र्क़ समझने से आज़ादी, संविधान और चुनाव की अलग भूमिकाएँ साफ़ होती हैं। मतदाता का सवाल धार्मिक पहचान से शुरू हो सकता है, लेकिन प्रतिनिधि के काम का हिसाब वहीं खत्म नहीं होना चाहिए।

मुसलमान नागरिक के लिए प्रतिनिधित्व का सवाल अहम था, पर उसका मतलब सिर्फ़ अपने धर्म के किसी व्यक्ति का पद पर होना नहीं था। चुना हुआ प्रतिनिधि स्कूल, सड़क, रोज़गार और सुरक्षा जैसे मुद्दों पर क्या काम करता है, यह देखना था। धार्मिक पहचान से भरोसा पैदा हो सकता है, लेकिन सार्वजनिक काम का हिसाब उससे अलग पूछना पड़ता है। साझा संस्थाओं में अपनी बात रखने की क्षमता और संस्थाओं का निष्पक्ष रवैया साथ मिलकर प्रतिनिधित्व का मतलब बनाते हैं।

इसीलिए राजनीतिक भागीदारी को सिर्फ़ चुनाव के दिन तक सीमित नहीं समझना चाहिए। मुद्दे पहचानना, बातचीत में शामिल होना और निर्णय का आधार पूछना भी लोकतांत्रिक जीवन का हिस्सा है। उस दौर के सामने इस जीवन की बुनियाद तैयार करने का काम था। आगे संविधानसभा में हम देखेंगे कि अलग पहचान की चिंता और साझे राजनीतिक मुस्तक़बिल की ज़रूरत के बीच कैसी बहस हुई। वहाँ किसी सवाल का उठना, उसका समर्थन मिलना और आखिर में नियम बनना अलग बातें थीं।

1947 की तरफ़ लौटकर देखने से एक बात साफ़ होती है। आज़ादी का स्वागत और बाँटवारे का दुख एक दूसरे को मिटा नहीं देते। कोई परिवार नई उम्मीद लेकर जी सकता था और अपने बिछड़े रिश्तेदार की खबर खोज सकता था। इतिहास को समझते हुए इतनी जगह रखें कि इन दोनों अनुभवों को साथ देखा जा सके। सिर्फ़ खुशी या सिर्फ़ डर में पूरे समय को समेट देने से आम इंसान की ज़िंदगी का बड़ा हिस्सा छूट जाता है।

हमने इस अध्याय में मुसलमानों के सामने खड़े सवाल को इसी नज़र से देखा है। घर में सुरक्षित रहना, रोज़ी कमाना, बच्चों को पढ़ाना और देश के मुस्तक्रबिल में अपना स्थान पहचानना उनकी चिंताओं में शामिल था। हर इलाके की स्थिति अलग थी और हर परिवार की राह भी। फिर भी साझा ज़रूरत दिखती है: सार्वजनिक व्यवस्था ऐसी हो जिसमें नागरिक का सम्मान किसी की मेहरबानी या पड़ोसी की पसंद पर निर्भर न रहे। यदि कोई परिवार रोज़मर्रा की ज़िंदगी में लौटना चाहता था, तो उसे आश्वासन के साथ रोज़मर्रा की व्यवस्था में भरोसे का अनुभव भी चाहिए था।

इस ज़रूरत का जवाब सिर्फ़ आपसी सद्भाव की अपील से पूरा नहीं हो सकता था। सद्भाव ज़रूरी था, मगर सरकार की ताक़त, कानून की सीमा और शिकायत की सुनवाई का आधार भी चाहिए था। व्यक्ति को अपनी धार्मिक पहचान के साथ सार्वजनिक जीवन में हिस्सा लेने का भरोसा मिलना था। दूसरों के समान अधिकार स्वीकार करना उस भरोसे का दूसरा पक्ष था। इसी जगह संविधान बनाने की प्रक्रिया आम लोगों की ज़िंदगी और उनके आने वाले दिनों से जुड़ती है।

अगला अध्याय हमें संविधानसभा की बहसों तक ले जाएगा। वहाँ सवाल यह होगा कि बराबरी का साझा आधार कैसे बने और अल्पसंख्यकों की विशेष चिंताओं को किस तरह ध्यान में रखा जाए। किसी वक्ता की राय को पूरे समुदाय की राय मान लेने से बचना होगा। प्रस्ताव, संशोधन और स्वीकृत पाठ का फ़र्क़ भी साथ रखना होगा। तभी हम समझ सकेंगे कि संविधान में पहुँचे शब्द किन सवालों के बीच चुने गए और उन पर अमल की ज़िम्मेदारी संस्थाओं पर कैसे आई।

अध्याय 2 – संविधानसभा में अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर बहस

संविधानसभा की बहस पढ़ते समय केवल आखिरी निर्णय पर न रुकें। यह भी देखें कि उसके पहले क्या प्रस्ताव आए, किसने क्या दलील दी और आखिर में कौन-सी बात मंजूर हुई। बहस में वही सवाल कई तरफ़ से दिखाई देता है। कोई मुस्तक़बिल की सुरक्षा सोचता है, कोई साझा राजनीतिक जीवन की मज़बूती और कोई शासन के दुरुपयोग की आशंका सामने रखता है। इन अलग रायों को सुनना इसलिए ज़रूरी है कि संविधान के शब्द किसी एक भाषण से नहीं बन गए थे। उनके पीछे विचार, संशोधन और निर्णय की पूरी प्रक्रिया थी।

अल्पसंख्यकों के अधिकारों का सवाल भी इसी प्रक्रिया में आया। संख्या में कम होना हर परेशानी का पूरा कारण नहीं होता, मगर ज़बान, धर्म और संस्थाओं को लेकर विशेष चिंता पैदा हो सकती है। सवाल यह था कि इन चिंताओं के बीच साझा नागरिकता कैसे कायम रहे। सभी को आम अधिकार मिलें और जहाँ पहचान की सुरक्षा का अलग विषय हो, वहाँ मुनासिब संरक्षण भी मिले। यह संबंध समझने से नियमों की बुनियाद साफ़ होती है। बैठक का रिकॉर्ड पढ़ते समय बोलने वाले का नाम और प्रस्ताव की स्थिति साथ देखिए; इससे उद्घरण का सही संदर्भ मिल सकता है।

सभा की कार्यवाइयों में समिति की रिपोर्ट, सदस्य का भाषण और आखिर में मंजूर किया गया अनुच्छेद अलग तरह के दस्तावेज़ हैं। किसी भाषण में सुझाई गई व्यवस्था को संविधान का लागू नियम बताना पाठक को उलझन में डालेगा। इसी तरह बाद के अनुच्छेद का नंबर पहले मसौदे में अलग हो सकता है। हम विषय के साथ उस वक़्त का मसौदा भी देखेंगे। कौन सी बात प्रस्ताव थी और कौन सी अंतिम पाठ में पहुँची, इसकी सावधानी पूरी चर्चा में ज़रूरी रहेगी।

इस अध्याय का मक़सद हर भाषण का सार इकट्ठा करना नहीं है। हम उन सवालों को समझना चाहते हैं जिनसे मुसलमानों और दूसरे अल्पसंख्यकों की नागरिक स्थिति जुड़ी थी। राजनीतिक प्रतिनिधित्व, धार्मिक स्वतंत्रता और शैक्षिक संरक्षण एक ही चीज़ नहीं थे। इनके समाधान भी अलग प्रावधानों में दिखाई देंगे। पाठक यदि शुरुआत में यह फ़र्क़ पकड़ ले, तो आगे की बहस समझना आसान होगा। उसके सामने इतिहास के साथ यह सवाल भी रहेगा कि आज किसी अधिकार का सही आधार कहाँ तलाशना है।

27 अगस्त 1947 की संविधानसभा की कार्यवाही में सरदार वल्लभभाई पटेल ने अल्पसंख्यकों से संबंधित सलाहकार समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट की चर्चा में मौलिक अधिकारों और राजनीतिक संरक्षण के सवालों को अलग पहचान मिली। यह फ़र्क़ आज भी काम आता है। धार्मिक स्वतंत्रता या शिक्षा का संरक्षण एक विषय है, जबकि निर्वाचन की व्यवस्था और प्रतिनिधित्व दूसरा। दोनों को एक ही नाम देकर पढ़ने से बहस का असल मतलब पीछे रह सकता है।

समिति के सामने सिर्फ़ बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक के बीच संबंध का सवाल नहीं था। अलग समूहों की ज़रूरतें और एक समूह के भीतर अलग आवाज़ें भी थीं। कोई राजनीतिक उपाय तत्काल भरोसा देने वाला लग सकता था, मगर उसके लंबे असर पर मतभेद हो सकता था। इसी वजह से प्रस्ताव का मकसद और उसे पूरा करने का तरीका अलग समझना ज़रूरी था। चिंता मान लेने के बाद भी उसके हल पर सदस्यों की एक राय होना ज़रूरी नहीं था। इसीलिए बहस की शुरुआती बात देखकर अंतिम फैसला तय मान लेना मुनासिब नहीं; बीच की कार्यवाही भी इतिहास का ज़रूरी हिस्सा है।

हम अक्सर बाद के फैसले को देखकर मान लेते हैं कि उसका रास्ता शुरू से निश्चित रहा होगा। सभा का रिकॉर्ड ऐसा सरल चित्र नहीं देता। उसमें बदलते हालात, अपनी राय पर दोबारा विचार और अमली सवाल दिखाई देते हैं। किसी सदस्य की बात उस दिन के हालात से जोड़कर पढ़ना बेहतर है। इससे उसके हर नतीजे से सहमत होना ज़रूरी नहीं, लेकिन उसके सामने मौजूद अंदेशा समझने की गुंजाइश बनती है। इतिहास में यह सावधानी जल्दबाजी से बचाती है।

पाठक इस बहस को अपने आज के सवाल से जोड़ सकता है। किसी समाज की सुरक्षा के लिए आम अधिकार कब काफ़ी आधार देते हैं और कब अलग संस्थागत संरक्षण की ज़रूरत समझी जाती है? इस सवाल का जवाब सिर्फ़ संख्या से नहीं निकलता। अधिकार का विषय, उसकी पहुँच और निर्णय लेने वाली व्यवस्था देखनी पड़ती है। आगे हम राजनीतिक व्यवस्थाओं की बहस से गुज़रेंगे, फिर धर्म और शिक्षा के संरक्षण तक आएँगे। इससे अलग उपायों को बिना मिलाए उनके संबंध समझना आसान होगा।

अलग निर्वाचन और आरक्षित सीट की चर्चा में शब्दों का फ़र्क़ समझना ज़रूरी है। अलग निर्वाचन में किसी समुदाय के प्रतिनिधि को चुनने वाले मतदाताओं की व्यवस्था समुदाय के आधार पर होती है। आरक्षित सीट का सवाल उस सीट के उम्मीदवार की पात्रता से जुड़ता है; मतदान की व्यवस्था उससे अलग देखनी पड़ती है। दोनों का मकरसद प्रतिनिधित्व की चिंता से संबंधित हो सकता है, लेकिन वे एक ही उपाय नहीं हैं। इन्हें मिलाने से इतिहास और आज की व्यवस्था, दोनों को गलत समझा जा सकता है।

संविधानसभा में इस विषय पर चिंता थी कि पहचान के आधार पर राजनीतिक विभाजन बना रहने का आगे क्या असर होगा। दूसरी तरफ़ कुछ सदस्यों को आशंका थी कि साझे चुनाव में कम संख्या वाले लोगों की आवाज़ कमज़ोर पड़ सकती है। ईमानदारी से पढ़ने पर दोनों सवाल दिखाई देते हैं। किसी आशंका को सुन लेना उसके लिए सुझाए गए हर उपाय को स्वीकार करना नहीं होता। फैसले में उपाय के फ़ायदे, सीमाएँ और समाज पर असर की जाँच भी शामिल थी।

पाठक अपने अनुभव से सवाल पूछ सकता है। प्रतिनिधि का नाम हमारी पहचान से मिलता हो, मगर वह हमारी ज़रूरतों पर काम न करे, तो क्या प्रतिनिधित्व पूरा माना जाएगा? और कोई दूसरा व्यक्ति स्कूल या सुरक्षा की चिंता पर गंभीर काम करे, तो उसके सार्वजनिक काम का महत्व कैसे देखें? ये आज की समझ के सवाल हैं। इन्हें सभा के किसी सदस्य की बात नहीं कहना चाहिए, लेकिन वे प्रतिनिधित्व के सामाजिक मतलब को खोलने में मदद करते हैं।

आगे बने संविधान में धार्मिक समुदायों के लिए अलग निर्वाचन को लोकसभा और विधानसभाओं की व्यवस्था नहीं बनाया गया। अनुच्छेद 325 ने चुनावी सूची के संदर्भ में धर्म, मूलवंश, जाति और लिंग के आधार पर बहिष्कार तथा विशेष सूची के दावे की मनाही रखी। इसका मतलब यह नहीं कि समाज में पहचान का महत्व खत्म हो गया। संवैधानिक चुनावी आधार और समाज में जीने का अनुभव अलग बातें हैं। साझा राजनीति में असल सुनवाई और समान भागीदारी का काम नागरिकों तथा संस्थाओं के सामने बना रहता है।

1947 में सामने आए राजनीतिक संरक्षण के प्रस्ताव और 1949 में हुए दोबारा विचार को एक सीधी, बिना बदलाव वाली कहानी समझना ठीक नहीं। 25 मई 1949 की बहस में धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए विधानमंडलों में सीटों के आरक्षण का सवाल फिर सामने आया। पहले की व्यवस्था को कायम रखने की माँग भी उठी और उसे हटाने का समर्थन भी हुआ। इस रिकॉर्ड से साफ़ है कि अंतिम संवैधानिक स्थिति तक पहुँचने से पहले चर्चा और निर्णय में बदलाव आए थे।

दोबारा विचार का मतलब यह नहीं कि अल्पसंख्यक अधिकारों का हर रूप खत्म कर दिया गया। राजनीतिक सीटों की व्यवस्था और धार्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक संरक्षण अलग विषय रहे। इसी तरह अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की संवैधानिक आरक्षण व्यवस्था को धार्मिक अल्पसंख्यकों वाली बहस का एक ही नतीजा बताना गलत होगा। पाठक को देखना चाहिए कि संरक्षण किस विषय में और किन लोगों के लिए है। शब्द मिलता हो तो भी कानूनी आधार अपने आप समान नहीं हो जाता। किसी संरक्षण का मक़सद समझने में उसकी बाधाएँ देखना ज़रूरी है; अलग इतिहास होने पर उपाय भी अलग हो सकते हैं।

हमारी सार्वजनिक बातचीत में अक्सर इतना कहा जाता है कि संविधानसभा ने आरक्षण स्वीकार किया या अस्वीकार कर दिया। यह बात अधूरी रह जाती है। किसके लिए, किस क्षेत्र में और कितने वक़्त या किस शर्त के साथ, इन सवालों के बिना बात का मतलब साफ़ नहीं होता। चुनावी सीट, नौकरी और शैक्षिक अवसर की व्यवस्थाएँ अलग जाँच माँगती हैं। किसी पुराने निर्णय को आज के हर विवाद का तैयार जवाब बना देना समझ घटाएगा और गलत उम्मीदें भी पैदा कर सकता है।

इस बहस से पाठक एक उपयोगी आदत सीख सकता है। किसी दावे को सुनकर उसके दस्तावेज़ में जाए और देखे कि प्रस्ताव किन शब्दों में रखा गया था। उसके बाद पूछे कि सभा ने अंत में क्या स्वीकार किया। सदस्य की चिंता पढ़ी जा सकती है, मगर लागू व्यवस्था अंतिम पाठ से समझी जाएगी। आगे के अध्याय में यही आदत काम आएगी, जब हम साझा अधिकार और विशेष संरक्षण के बीच असल संवैधानिक संबंध देखेंगे।

संविधानसभा के मुसलमान सदस्यों की बात पढ़ने पर विचारों की विविधता सामने आती है। 25 मई 1949 को मद्रास के मोहम्मद इस्माइल साहब ने अल्पसंख्यकों की आरक्षित सीटों तथा अलग निर्वाचन के पक्ष में संशोधन रखा। उसी दिन बेगम ऐजाज़ रसूल ने अलग निर्वाचन का विरोध करते हुए पटेल के प्रस्ताव का समर्थन किया। इन दोनों बातों से मालूम होता है कि मुसलमान प्रतिनिधियों को एक समान राय वाले समूह की तरह प्रस्तुत करना उस बहस के साथ इंसाफ़ नहीं करेगा।

मतभेद के पीछे मुस्तक़बिल की अलग आशंकाएँ थीं। कोई संख्या के असर से चिंतित होकर विशेष राजनीतिक व्यवस्था चाहता था। कोई समझता था कि अलग राजनीतिक ढाँचा साझे देश में दूरी बढ़ा सकता है। इन बातों को समझना ज़रूरी है। हम किसी एक बयान को चुनकर सभी मुसलमानों की इच्छा का सबूत नहीं बना सकते। सभा में बोलने वाले सदस्य अपनी दलीलें रखते थे; उनके नाम के पीछे पूरा समाज बिना मतभेद खड़ा था, ऐसा मानना मुनासिब नहीं। सदस्य से असहमति हो तो दलील का जवाब दीजिए, पहचान पर फैसला मत सुनाइए।

यह सावधानी आज की बातचीत में भी काम आती है। किसी मुसलमान महिला, छात्र, शिक्षक या सामाजिक कार्यकर्ता का अनुभव दूसरी आवाज़ से अलग हो सकता है। मतभेद को तुरंत समुदाय से बेवफ़ाई बताने पर विचार की जगह घटती है। सार्वजनिक सवाल पर दलील पूछनी चाहिए: प्रस्ताव किस समस्या का हल चाहता है और उसके नतीजे क्या होंगे? पहचान चर्चा के हालात समझा सकती है, लेकिन दलील की जाँच का स्थान नहीं ले सकती। एक दूसरे की इज़्ज़त रखते हुए बहस में यह फ़र्क़ ज़रूरी है।

इस पृष्ठ का मक़सद किसी पुराने वक्ता को आज के दिलों या विवादों से जोड़ना नहीं है। उनकी बातें उस समय की बहस हैं। पाठक उन्हें पढ़े, संबंधित प्रस्ताव की स्थिति देखे और फिर अपनी समझ बनाए। इतिहास से हमें पक्ष चुनने से ज़्यादा सवाल पूछने की आदत मिल सकती है। आगे जब धार्मिक और शैक्षिक संरक्षण की बात होगी, तब भी हम किसी पूरे समुदाय के बारे में नतीजा निकालने से पहले अधिकार का विषय तथा उसके असल शब्द देखेंगे।

धार्मिक स्वतंत्रता का सवाल चुनावी प्रतिनिधित्व से अलग था। व्यक्ति अपने विश्वास के साथ कैसे जीएगा, धार्मिक जीवन में सरकारी दखल की सीमा क्या होगी और दूसरों के समान अधिकार कैसे सुरक्षित रहेंगे, ये सवाल संविधान में अपना स्थान माँगते थे। आज़ादी को सिर्फ़ बहुसंख्यक की सहमति पर छोड़ना काफ़ी आधार नहीं बनता। साथ ही किसी धार्मिक दावे को सार्वजनिक ज़िम्मेदारी से पूरी तरह बाहर रख देना भी साझा नागरिक जीवन के सवालों का जवाब नहीं देता।

अंतिम संविधान के अनुच्छेद 25 में अंतःकरण, यानी ज़मीर की आज़ादी और धर्म मानने, उस पर अमल और उसका प्रचार करने का संरक्षण आया। यह अधिकार हर एक व्यक्ति के लिए है। सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार, स्वास्थ्य और संबंधित संवैधानिक सीमाएँ उसके साथ पढ़ी जाती हैं। इतना समझना काफ़ी है कि धार्मिक स्वतंत्रता किसी एक समुदाय पर किया गया एहसान नहीं है। इसके विस्तृत दायरे और व्यवहार के सवाल हम धार्मिक अधिकार वाले अध्याय में अलग समझेंगे। किसी के विश्वास की आज़ादी को स्वीकार करने के लिए उसके सभी विचार मानना बिल्कुल ज़रूरी नहीं; यहीं से मिलकर रहने की रोज़मर्रा की सीख मिलती है।

इस आज़ादी का सामाजिक मतलब भी है। किसी व्यक्ति से असहमति रखते हुए उसके विश्वास के सम्मान का रास्ता बचाए रखना साझा ज़िंदगी को संभव बनाता है। स्कूल, बाज़ार और पड़ोस में अलग धार्मिक पहचान वाले लोग साथ रहते हैं। उनके बीच हर बात पर समान सोच ज़रूरी नहीं, मगर सार्वजनिक अधिकारों का समान आधार ज़रूरी है। अपने विश्वास की आज़ादी चाहने वाला नागरिक जब दूसरे की आज़ादी पहचानता है, तब अधिकार की चर्चा ज़्यादा भरोसेमंद होती है।

इतिहास की बहस हमें सिखाती है कि संरक्षण और सीमा दोनों साथ पढ़ने चाहिए। सिर्फ़ आज़ादी का नाम सुनाकर सभी सवाल खत्म नहीं होते, और किसी सीमा का ज़िक्र करके पूरा अधिकार भी खत्म नहीं हो जाता। किस विषय में, किस आधार पर और किस संस्था द्वारा निर्णय हुआ, यह देखना होगा। हमारा मक़सद पाठक को इसी साफ़ समझ तक ले जाना है। आगे धर्म के अधिकार को समझते समय हम आम सम्मान, कानूनी संरक्षण और घटनाक्रम के बीच फ़र्क़ बनाए रखेंगे।

ज़बान और शिक्षा की चिंता किसी समुदाय की आने वाली पीढ़ी से जुड़ती है। परिवार चाहता है कि बच्चे नई चीज़ें सीखें और अपने सांस्कृतिक संबंध भी पहचानें। किसी ज़बान की स्कूल में जगह, संस्थान चलाने की क्षमता और दाखिले में इंसान अलग सवाल उठाते हैं। संविधान में ये विषय ऐसे शब्दों में आए जिन्हें सावधानी से पढ़ना चाहिए। हर सांस्कृतिक संरक्षण सिर्फ़ धार्मिक अल्पसंख्यक का अधिकार नहीं है और हर शिक्षा संबंधी अधिकार सभी संस्थानों में एक जैसा लागू नहीं होता।

अनुच्छेद 29 का पहला खंड विशिष्ट ज़बान, लिपि या संस्कृति वाले नागरिकों के किसी वर्ग के संरक्षण से संबंधित है। उसका पाठ सिर्फ़ मुसलमानों तक सीमित नहीं है। अनुच्छेद 30 धर्म या ज़बान के आधार पर अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाएँ खोलने और उनका इंतज़ाम सँभालने की आज़ादी से जुड़ता है। यहाँ हमारी ज़रूरत इन दोनों की पहचान करना है। आगे इनका मतलब विस्तार से समझेंगे; फिलहाल नाम की समानता से इनके अलग दायरे को मिटाना नहीं चाहिए। किताब मिले, शिक्षक ज़रूरत समझे और परिवार पढ़ाई जारी रख सके, तभी अवसर का उपयोग बढ़ेगा।

एक आम परिवार के लिए संस्कृति का सवाल सिर्फ़ बड़े समारोह में दिखाई नहीं देता। घर की बोली, पढ़ी जाने वाली किताब और बुजुर्गों की याद में भी उसका स्थान होता है। नई पीढ़ी का दूसरी ज़बान सीखना पुरानी ज़बान का अपमान होना ज़रूरी नहीं। सवाल यह है कि सीखने के अवसर बढ़ें और अपनी ज़बान से जुड़े संबंध सम्मान के साथ बने रहें। यह सामाजिक विचार है; किसी विशेष कानूनी दावे का नतीजा संबंधित प्रावधान तथा हालत देखकर तय होगा।

इसीलिए सांस्कृतिक सम्मान और अच्छी पढ़ाई को साथ सोचने की ज़रूरत है। संस्था मक़सद से जुड़ी रहे, मगर बच्चे को पढ़ाई और आगे बढ़ने का उपयोगी अवसर भी दे। संरक्षण की चर्चा यदि छात्र की असल ज़रूरत से कट जाए, तो उसकी सामाजिक अहमियत अधूरी रहेगी। संविधानसभा से निकले प्रावधानों को समझते हुए हमें संस्थापक की आज़ादी, विद्यार्थी के हित और सार्वजनिक ज़िम्मेदारी के बीच संबंध देखना होगा। आगे की चर्चा इन्हीं सवालों को क्रम से खोलेगी और भ्रम दूर करने में मदद करेगी।

बेगम ऐजाज़ रसूल की भागीदारी हमें यह याद दिलाती है कि संविधानसभा में मुसलमानों की आवाज़ का मतलब सिर्फ़ पुरुषों की राजनीतिक चिंता नहीं था। किसी महिला सदस्य को अपनी स्वतंत्र राय रखने वाली नागरिक की तरह पढ़ना ज़रूरी है। उसे सिर्फ़ समुदाय का प्रतीक बना देने से उसकी दलील पीछे रह जाती है। इतिहास में महिला का नाम शामिल करना पहला कदम है; उसकी बात को पूरी संजीदगी से सुनना उससे आगे का काम है।

समुदाय के अधिकारों की बात करते हुए उसके भीतर रहने वाले व्यक्तियों की इज़्ज़त पर भी ध्यान देना चाहिए। औरत, बच्चा, आर्थिक तंगी वाला परिवार या कम सुना जाने वाला व्यक्ति अपने अलग अनुभव रख सकता है। बाहर की असुरक्षा असल हो सकती है और भीतर के सवाल भी असल हो सकते हैं। एक सवाल मान लेने से दूसरा गायब नहीं होता। संवैधानिक सोच का फ़ायदा इसी में है कि व्यक्ति की बात पहचान की बड़ी चर्चा में खोने न पाए। घर के निर्णय में महिला की राय पूछना इस सम्मान की शुरुआत है; उसकी इच्छा का अंदाज़ा लगाना काफ़ी नहीं।

इसे आम उदाहरण से समझें। किसी शिक्षण संस्था के संरक्षण का सवाल अहम है, लेकिन वहाँ पढ़ने वाली लड़की की पढ़ाई, सुरक्षा और आगे बढ़ने की इच्छा भी अहम होगी। दोनों सवालों की कानूनी स्थिति अलग जाँची जाएगी, मगर सामाजिक चर्चा में विद्यार्थी को अनदेखा करना मुनासिब नहीं। संस्था की इज़्ज़त और घर की परंपरा के साथ बच्चे का अनुभव सुनना भी ज़रूरी है। दोनों की बात साथ रखना आसान नहीं, फिर भी इसकी कोशिश करनी चाहिए।

संविधानसभा के इतिहास से हमारी सीख सिर्फ़ पुराने निर्णय याद करना नहीं है। हमें पूछना है कि किसी समूह के नाम पर कौन बोल रहा है और किन लोगों की बात पीछे रह गई है। किसी महिला की असहमति को समुदाय के विरोध का सबूत बना देने से बातचीत रुक जाएगी। उसकी बात के आधार पर विचार करना बेहतर रास्ता है। आगे परिवार और शिक्षा के कानूनों में यह नज़र उपयोगी होगी, क्योंकि वहाँ सार्वजनिक संरक्षण के साथ व्यक्ति की अपनी ज़िंदगी और इच्छा सामने आएगी।

संविधानसभा की चर्चा से अंतिम पाठ तक आने में सवालों को अलग रूप मिला। राजनीतिक प्रतिनिधित्व की एक माँग मंजूर न होने का मतलब सभी सांस्कृतिक अधिकारों को नकारना नहीं था। किसी अधिकार का आम रूप शर्तें पूरी करने वाले सभी व्यक्तियों को मिला, तो किसी विषय पर विशेष संरक्षण भी रखा गया। इस प्रक्रिया को समझने से हम उस अधूरी सोच से बचते हैं जिसमें संविधान को सिर्फ किसी समुदाय के पक्ष या विरोध का दस्तावेज़ मान लिया जाता है।

हमने देखा कि अल्पसंख्यकों के सवाल पर मतभेद थे और मुसलमान सदस्यों की राय भी समान नहीं थी। यह मतभेद संविधान बनने की प्रक्रिया का हिस्सा था। उसके बाद मंजूर हुए पाठ की अपनी कानूनी अहमियत है। किसी सदस्य के भाषण से उस व्यवस्था की पृष्ठभूमि समझी जा सकती है, लेकिन भाषण अकेला लागू प्रावधान का स्थान नहीं लेता। इतिहास और कानून के संबंध को पढ़ते समय यही बात बार-बार काम आएगी और गलत उद्धरण से भी बचाएगी। कानून के आधार की पहचान होने पर पाठक अपना सवाल सही विषय में रख सकेगा और संस्था से जवाब माँगेगा।

इस अध्याय के बाद पाठक के सामने तीन रास्ते साफ़ होने चाहिए। साझा नागरिक अधिकार कहाँ हैं, पहचान से जुड़ा विशेष संरक्षण कहाँ है और राजनीतिक व्यवस्था किस संवैधानिक आधार पर बनी है। इन रास्तों को अलग पहचानकर ही उनका आपसी संबंध समझा जा सकता है। हम अपनी ज़रूरत के अनुसार सही प्रावधान तक पहुँचेंगे, बजाय हर सवाल को अल्पसंख्यक अधिकार का एक ही नाम देने के। इससे दावा साफ़ होगा और उसकी सीमा समझना भी आसान होगा।

अब अगले अध्याय में हम 1950 के संविधान की बुनियाद पर आएँगे। शुरुआत उसके स्वीकार होने और लागू होने के समय से होगी, फिर नागरिकता, बराबरी, धर्म, संस्कृति तथा शिक्षा के अधिकारों को पहचानेंगे। इस भाग में विस्तृत मुकदमों की चर्चा नहीं करेंगे; वह आगे संबंधित विषय में आएँगी। अभी मकसद उस साझा आधार को समझना है जिस पर आगे की पूरी किताब खड़ी है। इतिहास की सावधानी साथ रहेगी, और अब सवाल संविधान के आखिरी पाठ और उसके दायरे की ओर बढ़ेगा।

अध्याय 3 – 1950 का संविधान: साझा अधिकार और अल्पसंख्यक संरक्षण

26 नवंबर 1949 को संविधान स्वीकार किया गया और उसके ज़्यादातर प्रावधान 26 जनवरी 1950 को लागू हुए। कुछ प्रावधान पहले ही लागू हो गए थे, इसलिए दोनों तारीखों को एक जैसा बताना ठीक नहीं। गणतंत्र दिवस उस संवैधानिक व्यवस्था के मुख्य आरंभ से जुड़ा है जिसमें शासन के अधिकार और नागरिक जीवन की बुनियाद नए रूप में स्थापित हुई। आज़ादी की तारीख से इसका संबंध है, मगर दोनों अपने अलग ऐतिहासिक मतलब रखते हैं।

संविधान की प्रस्तावना देश के सार्वजनिक मक़सद सामने रखती है। न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की चर्चा उसमें व्यक्ति की गरिमा तथा साझा जीवन से जुड़ती है। ये शब्द सिर्फ़ समारोह में दोहराने के लिए नहीं हैं। जब सार्वजनिक संस्था किसी व्यक्ति की बात सुनती है या अवसर का आधार तय करती है, तब इन उद्देश्यों से सवाल उठ सकते हैं। प्रस्तावना से हर विशेष विवाद का सीधा नतीजा नहीं निकलता, मगर संवैधानिक समझ की दिशा पहचानने में उसका महत्व है। गणतंत्र दिवस के जश्न में नवंबर का फैसला याद रखना भी इस पूरी यात्रा को समझना है।

1950 की चर्चा में आज के पाठ को बिना समय का फ़र्क़ देखे नहीं रखना चाहिए। प्रस्तावना में समाजवादी और पंथनिरपेक्ष शब्द बयालीसवें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 से जोड़े गए। यह बदलाव 3 जनवरी 1977 से लागू हुआ। इससे पहले धार्मिक स्वतंत्रता और बराबरी के प्रावधान मूल संविधान में मौजूद थे। किसी शब्द के बाद में जुड़ने और संबंधित संवैधानिक आधार के होने में फ़र्क़ है। इतिहास सही पढ़ने के लिए मूल व्यवस्था तथा बाद के संशोधन को उनके अपने समय में पहचानना ज़रूरी है।

मुसलमान नागरिक इस संविधान के बाहर खड़ा कोई दर्शक नहीं था। साझा अधिकारों की चर्चा में उसका स्थान अन्य नागरिकों के साथ था; विशेष संरक्षण के सवाल संबंधित प्रावधानों में आए। हम आगे इसी संबंध को समझेंगे। धार्मिक पहचान होने से रोज़गार, शिक्षा या सार्वजनिक सुनवाई के आम सवाल खत्म नहीं होते। नागरिक ज़िंदगी की ज़रूरतें इससे कहीं बड़ी हैं। इसलिए संविधान को पढ़ते समय अपनी पहचान के संरक्षण के साथ बराबरी और सार्वजनिक ज़िम्मेदारी का पूरा आधार भी सामने रखना होगा।

नागरिकता और धार्मिक पहचान अलग सवाल हैं। कोई व्यक्ति किस धर्म को मानता है, उससे उसकी नागरिकता की कानूनी स्थिति अपने आप तय नहीं होती। संविधान के आरंभ में नागरिकता से संबंधित प्रावधानों ने उस समय के हालात को ध्यान में रखा। बँटवारे, आने-जाने और निवास से जुड़े सवाल आसान नहीं थे। इसलिए हम किसी परिवार के बारे में सिर्फ़ नाम, बोली या अनुमान के आधार पर कानूनी नतीजा नहीं निकाल सकते। संबंधित नियम और तथ्य देखने पड़ेंगे।

अनुच्छेद 5 से 11 तक का विषय संविधान के प्रारंभ की नागरिकता तथा संसद की संबंधित शक्ति से जुड़ता है। बाद में नागरिकता अधिनियम, 1955 आया। यह भेद याद रखना ज़रूरी है, क्योंकि आरंभिक संवैधानिक स्थिति और बाद की कानूनी प्रक्रियाएँ एक ही समय की व्यवस्था नहीं हैं। विस्तृत चर्चा नागरिकता के अध्याय में होगी। यहाँ इतनी समझ चाहिए कि किसी अधिकार के लिए नागरिक होना आवश्यक है या वह व्यक्ति को मिलता है, यह उसके शब्दों से समझा जाएगा। किसी परिवार की बात सुनना ज़रूरी है; अधूरी जानकारी से इंसाफ़ वाली राय नहीं बनेगी।

हमारी बातचीत में देश से संबंध अक्सर घर, याद, ज़बान और साझा अनुभव से व्यक्त होता है। ये इंसानी संबंध गहरे हैं और उनका सम्मान होना चाहिए। लेकिन किसी विशेष कानूनी मामले में इन्हें अकेला पक्का सबूत बताना मुनासिब नहीं। उसी तरह समाज में फैले शक को कानूनी फैसला बना देना भी गलत होगा। जहाँ नागरिकता का असल सवाल उठता है, वहाँ तय प्रक्रिया और दस्तावेज़ का महत्व होगा। व्यक्ति का सम्मान उस जाँच की गंभीरता के साथ भी बना रहना चाहिए।

इस फ़र्क़ से पाठक को आगे मदद मिलेगी। संविधान में हर स्थान पर व्यक्ति और नागरिक शब्द का एक ही मतलब मान लेने से अधिकार का दायरा गलत समझा जाएगा। किसी प्रावधान को पढ़ते समय देखें कि वह किसे संबोधित करता है। साझा ज़िंदगी में एक दूसरे को धार्मिक नाम से पहचानना संभव है, मगर सरकारी निर्णय का आधार कानून होना चाहिए। चर्चा की शुरुआत इसी साफ़ समझ से होगी, ताकि पहचान की बहस में असल कानूनी सवाल और उसकी सुनवाई पीछे न रह जाएँ।

बराबरी के अधिकारों में भी दायरे का फ़र्क़ है। अनुच्छेद 14 व्यक्ति की कानून के सामने बराबरी और कानूनों के बराबर संरक्षण से जुड़ता है। अनुच्छेद 15 तथा 16 में नागरिकों से संबंधित भेदभाव और अवसर के सवाल आते हैं। अनुच्छेद 16 विशेष रूप से सरकारी रोज़गार का विषय है। इन प्रावधानों का नाम साथ लिया जाता है, लेकिन इनके पूरे मतलब और क्षेत्र एक नहीं हैं। विस्तृत चर्चा आगे बराबरी वाले अध्याय में होगी।

आम ज़िंदगी में बराबरी की ज़रूरत तब सामने आती है जब किसी आदमी को अपने नाम या धार्मिक पहचान के कारण पहले ही एक ख़ाँचे में रख दिया जाए। उम्मीदवार की योग्यता देखे बिना उसके बारे में निर्णय बना लेना सम्मान को चोट पहुँचाता है। यदि सरकारी व्यवस्था का सवाल है, तो संबंधित कानूनी आधार भी देखा जाएगा। हर बुरा अनुभव अपने आप किसी एक अनुच्छेद का साबित उल्लंघन नहीं बन जाता; घटना, निर्णय और सबूत को समझना ज़रूरी रहेगा। अच्छा व्यवहार भरोसा बढ़ाता है, लेकिन नागरिक का अधिकार उससे आगे स्वतंत्र कानूनी आधार भी रखता है।

समान व्यवहार का मतलब यह भी नहीं कि कानून हर स्थिति में किसी फ़र्क़ को पहचान ही नहीं सकता। किसी अलग श्रेणी या विशेष व्यवस्था का आधार और मक़सद जाँचना पड़ता है। पिछड़ेपन और अवसर की बाधाओं से जुड़े प्रावधान अपनी शर्तों के साथ पढ़े जाएंगे। हम आगे इस विषय को अलग खोलेंगे। फिलहाल ज़रूरी है कि बराबरी का नाम सुनकर सभी विशेष व्यवस्थाओं को गलत न कहा जाए, और किसी विशेष व्यवस्था के नाम पर हर फ़र्क़ को मुनासिब भी न मान लिया जाए।

पाठक के लिए अमली सीख यह है कि शिकायत साफ़ शब्दों में लिखें। कौन सा निर्णय हुआ, किस अधिकारी ने किया और उसका बताया कारण क्या है, यह जानकारी उपयोगी होगी। तुलना भी मुनासिब आधार पर होनी चाहिए। दूसरों के समान सम्मान की माँग में दूसरे की गरिमा घटाने की ज़रूरत नहीं। संविधान का साझा आधार इसी सोच को मज़बूत करता है। मुसलमान नागरिक उस आधार का हिस्सा है, इसलिए उसकी बात को मज़हबी एहसान की ज़बान में सीमित करना मुनासिब नहीं होगा।

धार्मिक स्वतंत्रता की बुनियाद व्यक्ति के ज़मीर के सम्मान से शुरू होती है। विश्वास का सवाल उसकी ज़िंदगी में गहरा स्थान रख सकता है। अनुच्छेद 25 का संरक्षण इसीलिए सिर्फ़ मुसलमानों के लिए नहीं, हर व्यक्ति के लिए है। उसमें आज़ादी के साथ सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य का संबंध भी रखा गया है। अधिकार को उसकी सीमाओं सहित पढ़ना ज़रूरी है। एक हिस्सा सामने रखने से उसके असल संवैधानिक मतलब का पूरा परिचय नहीं मिलता।

अनुच्छेद 26 धार्मिक संप्रदायों और उनके वर्गों के विषयों से जुड़ता है। व्यक्ति की आज़ादी तथा संस्था के प्रबंधन को एक ही सवाल मानना मुनासिब नहीं। किसी धार्मिक संस्था का अपने मामलों से संबंध अहम है, मगर उससे सभी सार्वजनिक कानूनों से पूरी छूट नहीं मिलती। संविधान के शब्द और संबंधित हालत देखकर ही सवाल समझा जाएगा। इस भाग में हमारा मक़सद आधार पहचानना है; आगे संस्थाओं तथा धार्मिक आचरण के सवाल ज़्यादा विस्तार से आएँगे। मोहल्ले की बातचीत में यह सम्मान व्यवहार से दिखता है; त्योहार और मुलाकात में दूसरे के हक़ का खयाल रखना होता है।

मुसलमान परिवार के लिए यह समझ भरोसे का विषय हो सकती है। अपने धर्म पर अमल का अधिकार पड़ोसी की मेहरबानी पर नहीं टिका होना चाहिए। यही उसूल पड़ोसी के धर्म के लिए भी स्वीकार करना होगा। किसी विश्वास से सहमत होना और उसके पालन की आज़ादी पहचानना अलग बातें हैं। साझा मोहल्ले में दोनों की जगह बची रहे तो बातचीत आसान होती है। मतभेद के बावजूद सम्मान रखना सिर्फ़ अच्छी तहज़ीब नहीं, समान नागरिक जीवन की ज़रूरत भी है।

कभी धार्मिक विवाद में बहुत तेज़ ज़बान असल सवाल को ढक देती है। तब यह देखना उपयोगी है कि मामला किस गतिविधि का है, कौन सा नियम लागू बताया गया और किस संस्था ने निर्णय दिया। सुनी हुई बात से आगे दस्तावेज़ तक जाना समझ बढ़ाता है। अपनी आस्था का सम्मान चाहते हुए कानूनी प्रक्रिया की गंभीरता भी स्वीकार करनी होगी। आज़ादी और ज़िम्मेदारी का यह संबंध हमें अधिकार की ताक़त समझाता है और उसके इस्तेमाल में दूसरों की गरिमा याद रखने का अवसर देता है।

ज़बान, लिपि और संस्कृति का संबंध घर के जीवन से भी है और सार्वजनिक अवसर से भी। कोई बच्चा अपनी माँ की बोली में दुनिया समझता है, फिर स्कूल में दूसरी ज़बानें सीखता है। परिवार की यादें, कहावतें और पढ़ने की आदतें उसके साथ चलती हैं। ऐसे रिश्तों का संरक्षण अहम सांस्कृतिक सवाल है। लेकिन संवैधानिक दावा करते समय हमें उस भावना से आगे संबंधित प्रावधान के शब्दों तक पहुँचना होगा, क्योंकि उसका दायरा अपना तय मतलब रखता है।

अनुच्छेद 29 के पहले खंड में अलग ज़बान, लिपि या संस्कृति वाले नागरिकों के किसी वर्ग की बात है। सिर्फ़ धार्मिक अल्पसंख्यक उसका पूरा विषय नहीं हैं। दूसरे खंड में राज्य द्वारा संचालित या राज्य सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश का अलग संरक्षण है। दोनों खंडों को एक ही सवाल मान लेने से भ्रम होगा। संस्कृति बचाने का अधिकार और कुछ आधारों पर दाखिला रोकने की मनाही अलग विषय हैं, भले वे एक अनुच्छेद में आए हों। अपनी बोली की किताब बच्चे को पढ़ने से जोड़ सकती है; यह बात याद रखें।

उर्दू की चर्चा करते समय भी इसी साफ़ समझ की ज़रूरत है। ज़बान को किसी एक धार्मिक पहचान में पूरी तरह बंद कर देने से उसके बोलने, पढ़ने और लिखने वालों की विविधता छूटती है। किसी परिवार के सांस्कृतिक लगाव का सम्मान अपनी जगह है; स्कूल की उपलब्धता, शिक्षक और पढ़ाई का स्तर अपने अमली सवाल हैं। संस्कृति का सम्मान उपयोगी होगा जब सीखने के हालात पर भी गंभीर काम हो। सिर्फ़ जज़्बाती समर्थन से बच्चे की ज़रूरतें पूरी नहीं होतीं।

हम अपने बच्चों के लिए ज़बान और अवसर दोनों चाह सकते हैं। घर की ज़बान सीखना दूसरी ज़बान सीखने का विरोध नहीं होना चाहिए। इसी तरह नई ज़बान के अवसर के नाम पर पुरानी ज़बान को अपमानित करने की ज़रूरत नहीं। कौन सा कार्यक्रम या नियम लागू है, यह तथ्य देखकर समझेंगे। संविधान का संरक्षण उस जाँच का आधार दे सकता है, मगर हर स्थानीय समस्या का समाधान अपने आप नहीं हो जाता। नागरिक की भागीदारी और सार्वजनिक संस्था की जवाबदेही वहाँ भी ज़रूरी बनी रहती है।

अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं का विषय आते ही कई लोग उसे बिना पढ़े विशेष सुविधा का नाम दे देते हैं। कुछ लोग उसका नाम आते ही तालीमी ज़िम्मेदारी खत्म मान लेते हैं। दोनों रास्ते विषय को अधूरा करते हैं। अनुच्छेद 30 धर्म या ज़बान के आधार पर अल्पसंख्यकों को शिक्षण संस्थाएँ खोलने और उनका इंतज़ाम सँभालने का संरक्षण देता है। उसका मक़सद और दायरा समझना होगा। यह किसी एक संस्था के हर निर्णय को अपने आप बिल्कुल सही बताने वाला तैयार जवाब नहीं है।

एक स्कूल की पहचान और बच्चे की शिक्षा साथ जुड़े होते हैं। संस्थापक अपनी परंपरा तथा शैक्षिक मक़सद के साथ संस्था चलाना चाह सकता है। विद्यार्थी को अच्छी पढ़ाई, सम्मान और आगे की राह चाहिए। शिक्षक की भूमिका भी अहम है। इन सब सवालों को सुनना संरक्षण के महत्व को कम नहीं करता। उलटे, इससे साफ़ होता है कि संस्था का मक़सद क्या है। कानूनी विवाद में विशेष नियम और हालत अलग देखे जाएंगे; आम चर्चा में बच्चे को केंद्र से हटाना मुनासिब नहीं। माँ-बाप अपनी चिंता बता सकें और संस्था सुने, तो शिक्षा की कोशिश ज़्यादा मज़बूत हो सकती है।

हमें यह भी समझना चाहिए कि किसी संस्था के बारे में उसका नाम देखकर पूरा नतीजा नहीं निकलता। उसका कानूनी दर्जा, संबंधित मान्यता और लागू शर्तें देखनी पड़ सकती हैं। अल्पसंख्यक संस्था की स्थापना, प्रबंधन और प्रवेश के सवालों पर विस्तृत संवैधानिक चर्चा रही है। इस अध्याय में हम उसका बुनियादी परिचय ले रहे हैं। आगे शिक्षा वाले हिस्से में आम शिक्षा अधिकार तथा संस्थागत संरक्षण को अलग रखकर संबंध ज़्यादा साफ़ करेंगे।

तालीम की हमारी सामाजिक फ़िक्र किसी अधिकार का नाम याद करने से आगे जानी चाहिए। पुस्तकालय, पढ़ने का माहौल, लड़कियों की लगातार पढ़ाई और परिवार की भागीदारी नतीजे बदलते हैं। संस्था का संरक्षण पढ़ाई के अवसर बचाने में काम आए, यही उसकी चर्चा का उपयोगी पक्ष है। किसी छात्र की परेशानी को इज़्ज़त के नाम पर दबाना मदद नहीं करेगा। अपनी संस्था से लगाव के साथ उससे बेहतर काम की उम्मीद रखना ज़िम्मेदार रवैया है। सम्मान और जवाबदेही एक साथ रह सकते हैं।

अधिकार की पहचान के बाद अगला सवाल उसके संरक्षण का रास्ता है। यदि सार्वजनिक व्यवस्था में व्यक्ति की बात गलत आधार पर रोकी गई हो, तो वह अपनी शिकायत कहाँ रखेगा? संविधान में अदालत से राहत का रास्ता इसी ज़रूरत से जुड़ा है। अनुच्छेद 32 मौलिक अधिकारों को लागू कराने के लिए सर्वोच्च न्यायालय का आधार देता है। अनुच्छेद 226 के तहत उच्च न्यायालयों की रिट संबंधी शक्ति ज़्यादा व्यापक विषयों तक पहुँच सकती है। दोनों को बिल्कुल समान रास्ता नहीं कहना चाहिए।

किसी आम आदमी के लिए अदालत का नाम सुनना और वहाँ अपनी बात असरदार ढंग से रखना अलग अनुभव हैं। समय, खर्च, ज़बान और कागज़ों की तैयारी उसके सामने आ सकती है। इन मुश्किलों को मान लेना अधिकार का महत्व कम करना नहीं है। सवाल यह है कि संरक्षण की व्यवस्था तक असल पहुँच कैसे बढ़े। मुनासिब सहायता लेना, उपलब्ध आदेश समझना और घटनाक्रम साफ़ रखना उपयोगी होगा। किस कानूनी प्रक्रिया की ज़रूरत है, यह संबंधित मामले पर निर्भर करेगा। सुनवाई का दरवाज़ा खुला हो, तो उसका रास्ता समझाने वाली ज़बान नागरिक तक पहुँचनी चाहिए।

संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्व भी हैं। अनुच्छेद 37 के मुताबिक इन्हें अदालत से सीधे लागू नहीं कराया जा सकता, लेकिन देश के शासन में इनकी अहमियत है। इन्हें मौलिक अधिकारों जैसा अदालती दावा बताना गलत होगा। अनुच्छेद 44 इसी भाग में आता है। उसकी विस्तृत चर्चा परिवार और कानून वाले हिस्से में होगी। फिलहाल पाठक को अधिकार, नीति की दिशा और किसी विशेष कानून की व्यवस्था के बीच यह बुनियादी फ़र्क़ याद रखना चाहिए।

हमारी माँग जितनी साफ़ होगी, उसकी सुनवाई का सवाल उतना बेहतर सामने आएगा। सिर्फ़ दुख का बयान काफ़ी दस्तावेज़ नहीं होता, हालांकि उस दुख का सम्मान ज़रूरी है। किस निर्णय से नुकसान हुआ और सुधार का आधार क्या है, यह बताना उपयोगी रहेगा। साथ ही संस्था को नागरिक की ज़बान और स्थिति समझने की ज़िम्मेदारी निभानी चाहिए। अधिकार की ताक़त तभी रोज़मर्रा की ज़िंदगी तक पहुँचती है जब सुनवाई सिर्फ़ कागज़ पर उपलब्ध न हो, बल्कि व्यक्ति उसे सम्मान के साथ इस्तेमाल भी कर सके।

साझा अधिकार और विशेष संरक्षण एक साथ चलते हैं। आज़ादी के दौर में रोज़मर्रा की ज़िंदगी का भरोसा लौटाना बड़ी ज़रूरत थी। संविधानसभा ने साझा नागरिकता और अलग चिंताओं के बीच बहस की। अंतिम संविधान में आम अधिकारों के साथ कुछ विशेष संरक्षण आए। ये तीन पड़ाव जुड़े हैं, लेकिन एक दूसरे की जगह नहीं लेते। इतिहास सवाल की पृष्ठभूमि देता है, सभा का रिकॉर्ड विचार की प्रक्रिया दिखाता है और संवैधानिक पाठ कानूनी आधार सामने रखता है।

मुसलमानों के लिए संविधान में क्या है, इस शुरुआती सवाल का जवाब अब और साफ़ होता है। बराबरी, धार्मिक स्वतंत्रता और न्यायिक संरक्षण का साझा आधार उनके लिए भी अहम है। ज़बान और शिक्षण संस्था से जुड़े संरक्षण संबंधित प्रावधानों में अपनी पहचान रखते हैं। हर अधिकार की पात्रता तथा सीमा देखनी होगी। सिर्फ़ अल्पसंख्यक कहलाने से सभी व्यवस्थाओं का दावा नहीं मिलता, और किसी विशेष संरक्षण का ज़िक्र होने से साझा नागरिक अधिकारों का महत्व भी कम नहीं होता। हक़ की बात ज़रूरी है; उसे घर की बातचीत तक पहुँचाना भी सामाजिक काम है।

इस समझ का उपयोग घर और समाज की बातचीत में हो सकता है। बच्चे के मुस्तक़बिल का सवाल उठे तो शिक्षा के अवसर और संस्था की ज़िम्मेदारी देखें। किसी निर्णय पर शिकायत हो तो उसका आधार पूछें। धर्म का सवाल आए तो अपनी आज़ादी के साथ दूसरे की आज़ादी पहचानें। ज़बान की फ़िक्र हो तो संस्कृति के सम्मान और सीखने के हालात पर साथ काम करें। इस तरह संविधान कोई दूर की चीज़ नहीं रहता; वह हमारी सार्वजनिक ज़रूरतों को समझने का रास्ता देता है।

इन अधिकारों को समझने में एक और सावधानी चाहिए। ज़बान और शिक्षा की व्यवस्था का ज़िक्र आए तो देखें कि प्रावधान मूल संविधान में था या बाद में जुड़ा। किसी राज्य की नीति और स्कूल में मिलने वाली सुविधा भी अलग बातें हैं। तीनों को एक मान लेंगे तो परिवार की ज़रूरत ठीक तरह सामने नहीं आएगी। अगले पन्ने पर ज़बान का सवाल साफ़ करेंगे, क्योंकि सांस्कृतिक संरक्षण का संबंध किताब के शब्दों से आगे बच्चे की पढ़ाई तक भी पहुँचता है।

ज़बान की चर्चा में एक और फ़र्क़ समझना ज़रूरी है। 1950 के संविधान में मौजूद संरक्षण और बाद में जोड़ी गई व्यवस्था को एक समय की बात नहीं कह सकते। अनुच्छेद 350A तथा 350B सातवें संविधान संशोधन से 1956 में जुड़े। पहला भाषाई अल्पसंख्यक बच्चों के लिए प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में पढ़ाई की पर्याप्त सुविधा उपलब्ध कराने के प्रयास से संबंधित है। दूसरा भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की व्यवस्था करता है। यह समय का फ़र्क़ आगे की चर्चा में याद रखना होगा।

मुसलमानों की ज़बानें एक नहीं हैं। घर की बोली और इलाके के संबंध अलग हो सकते हैं। उर्दू का मुसलमान समाज की अदबी और सामाजिक ज़िंदगी से गहरा रिश्ता है, लेकिन उसे सिर्फ़ एक मज़हब की ज़बान मान लेना अधूरा होगा। इसी तरह हर मुसलमान परिवार की मातृभाषा उर्दू मान लेना भी ठीक नहीं। ज़बान का सवाल समझने के लिए परिवार और इलाके का अनुभव सुनना चाहिए। पहचान के बड़े नाम से बच्चे की पढ़ाई की ज़रूरत अपने आप मालूम नहीं हो जाती।

उर्दू के बारे में किसी राज्य की व्यवस्था का सवाल उठे तो उसका लागू रिकॉर्ड देखना होगा। संविधान का सांस्कृतिक संरक्षण, राज्य की भाषा नीति और स्कूल में उपलब्ध पढ़ाई अलग सवाल हैं। एक का ज़िक्र दूसरे का पूरा सबूत नहीं है। किसी परिवार को किताब और शिक्षक की ज़रूरत हो सकती है, जबकि सार्वजनिक बहस सिर्फ़ ज़बान के दर्जे पर ठहरी हो। इसलिए जज़्बाती लगाव के साथ अमली ज़रूरत सामने रखनी चाहिए। बच्चे को उपयोगी पढ़ाई मिले और उसकी ज़बान का सम्मान बना रहे, दोनों अहम हैं।

यहाँ इतिहास का संबंध आज की ज़िम्मेदारी से बनता है। कोई संरक्षण मूल संविधान में था या बाद में जुड़ा, यह पहचानने से उसके महत्व में कमी नहीं आती। इससे उसकी पूरी यात्रा सही समझ में आती है। आगे किसी कानून या सरकारी फैसले की चर्चा में भी यही सावधानी चाहिए। बदलाव का दस्तावेज़, उसका समय और लागू क्षेत्र देखेंगे। ज़बान के सवाल ने हमें इस फ़र्क़ का उदाहरण दिया है; इसी समझ के साथ नागरिक अधिकारों की विस्तृत चर्चा आगे बढ़ सकती है।

यहाँ एक बात साफ़ है: आज़ादी के बाद हिंदुस्तान में रहने वाले मुसलमानों की हैसियत को सिर्फ़ किसी एक कानून से नहीं समझा जा सकता। उनका रिश्ता उस पूरे संवैधानिक ढाँचे से है जिसमें नागरिकता, बराबरी, मज़हब, ज़बान और तालीम के सवाल जगह रखते हैं। किसी मुसलमान का सरकारी दफ़्तर में बराबर व्यवहार पाने का सवाल हो, अपने मज़हब पर अमल करने की बात हो या अपनी तालीमी संस्था का मामला, हर जगह अधिकार का आधार और उसकी शर्तें देखनी पड़ती हैं। इन्हें साथ पढ़ने से तस्वीर खुलती है; किसी एक हिस्से को पकड़ लेने से बाकी बातें पीछे रह जाती हैं।

लेकिन कागज़ पर लिखा हक़ और ज़िंदगी में मिलने वाले अवसर हमेशा एक साथ नहीं चलते। एक परिवार बच्चों की पढ़ाई के साधन जुटा लेता है, दूसरा फीस और दूरी के बीच अटक जाता है। किसी को शिकायत का रास्ता मालूम होता है, कोई अपनी परेशानी को लेकर सही दफ़्तर तक भी नहीं पहुँच पाता। इसलिए संविधान में अधिकार होने का मतलब यह नहीं कि हर मुश्किल उसी दिन खत्म हो गई। उसके मायने यह है कि नागरिक अपने साथ हुए व्यवहार पर सवाल उठा सकता है और जहाँ लागू हो, अधिकार के आधार पर इंसान माँग सकता है।

यही बात आगे की चर्चा का रास्ता तय करती है। हमें देखना है कि अधिकार किन शब्दों में मिला, सरकार ने उसके बारे में क्या व्यवस्था की और आम आदमी तक उसका असर कितना पहुँचा। जहाँ कोई बदलाव हुआ, वहाँ यह भी पूछना होगा कि बदलाव संविधान में था, किसी कानून में था या सरकारी काम के तरीके में। इनका फ़र्क़ मिटा देंगे तो तारीख़ भी ग़लत समझेंगे और किसी सरकार के काम का हिसाब भी अधूरा रहेगा।

अब भाग दो में इन्हीं अधिकारों को समझेंगे। बराबरी और सरकारी रोज़गार से शुरुआत होगी, फिर मज़हब की आज़ादी, ज़बान, संस्कृति और तालीमी संस्थाओं पर आएँगे। बात ऐसी रहेगी कि पढ़ने वाला अपने सवाल को पहचान सके। आखिर इस किताब का मक़सद यही है कि मुसलमान अपने संवैधानिक हक़ समझे और उनके बारे में कही जाने वाली बातों को परख सके।

भाग दो — संविधान में दर्ज अधिकार

अध्याय 4 — बराबरी, भेदभाव और सरकारी रोज़गार

जब संविधान में बराबरी की बात आती है, तो यह समझना होगा कि वह किसके लिए लिखी गई है। अनुच्छेद 14 कहता है कि राज्य भारत के क्षेत्र में किसी व्यक्ति को कानून के सामने समानता या कानूनों का समान संरक्षण देने से इनकार नहीं करेगा। यहाँ शब्द “व्यक्ति” है। इसलिए इस संरक्षण को सिर्फ़ नागरिकों तक सीमित करके पढ़ना सही नहीं होगा। मुसलमान भी इसी आम संवैधानिक व्यवस्था के भीतर आता है। इसका मतलब यह नहीं कि हर व्यक्ति की ज़िंदगी में बराबरी अपने आप हासिल हो गई। इसका मतलब है कि सरकारी कार्रवाई को जाँचने के लिए संविधान ने एक कानूनी कसौटी दी है।

दो व्यक्तियों के साथ प्रशासन अलग व्यवहार करता है तो पहला सवाल होगा कि क्या उस अंतर के पीछे कानून में मुनासिब वजह है। सिर्फ़ अलग नतीजा देखकर हर बार भेदभाव साबित नहीं होता, और सिर्फ़ नियम में समान शब्द लिख देने से हर व्यवहार न्यायपूर्ण भी नहीं हो जाता। मामले के तथ्य, लागू कानून और उसके इस्तेमाल को साथ देखना पड़ता है। बराबरी का अधिकार इसी वजह से अदालतों के सामने आता है। वह किसी एक समुदाय को दी गई रियायत नहीं, राज्य की शक्ति पर लगाई गई बुनियादी शर्त है। हम तीन पड़ावों से गुज़रेंगे। पहले कानून के सामने बराबरी और धर्म के आधार पर भेदभाव के निषेध को देखेंगे। फिर सार्वजनिक स्थानों तथा शिक्षा में प्रवेश के सवाल पर आएँगे। उसके बाद सरकारी नौकरी में बराबर अवसर और आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था समझेंगे। किसी आम नागरिक अधिकार को “सिर्फ़ मुसलमानों के लिए कानून” कहना उतना ही गलत होगा जितना इस हक़ से मुसलमानों का संबंध मिटा देना। आगे जहाँ किसी सरकारी फैसले का ज़िक्र आएगा, वहाँ हम यह भी पूछेंगे कि फैसला किस सरकार ने किया, किस नियम से किया और उस पर अदालत का कोई आदेश है या नहीं। बिना इन बातों के किसी समुदाय को हुए फ़ायदे या नुकसान का पक्का दावा करना जल्दबाज़ी होगी। इस अध्याय की शुरुआत इसी एहतियात और संविधान के लिखे हुए शब्दों से करते हैं। हर दावे का मूल सरकारी दस्तावेज़ भी पढ़ना होगा।

अनुच्छेद 14 को पढ़कर यह समझ लिया जाता है कि राज्य किसी स्थिति में दो लोगों के बीच कोई फ़र्क़ नहीं कर सकता। संविधान में बराबरी का मतलब यह नहीं है। अलग परिस्थितियों के लिए अलग नियम बनाए जा सकते हैं, मगर उनका आधार मनमाना नहीं होना चाहिए। यदि राज्य किसी मक़सद के लिए लोगों के समूह बनाता है तो उस वर्गीकरण और मक़सद के बीच उचित रिश्ता होना चाहिए। अदालतें इसी तरह के सवाल को परखती हैं। किताब में आगे जब किसी योजना या नियुक्ति नियम का ज़िक्र होगा, तो उसका पूरा पाठ पढ़ना इसलिए ज़रूरी होगा।

अनुच्छेद 15 का पहला खंड नागरिकों के विरुद्ध धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव को रोकता है। मुसलमान नागरिक पूछ सकता है कि राज्य ने उसके साथ सिर्फ़ मज़हब की वजह से अलग व्यवहार तो नहीं किया। लेकिन “केवल” शब्द की बारीकी समझनी होगी। हर विवाद में यह देखना पड़ेगा कि निर्णय की असल वजह क्या थी और क्या कोई दूसरा वैध आधार भी मौजूद था। किसी खबर की दो पंक्तियाँ इस कानूनी जाँच की जगह नहीं ले सकतीं।

अनुच्छेद 15 का दूसरा खंड दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों तक पहुँच, तथा राज्य के धन से बनाए या आम जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, सड़कों और दूसरे सार्वजनिक स्थानों के इस्तेमाल से जुड़ा है। इसके शब्द इतिहास के उस दौर की सामाजिक रुकावटों को सामने रखते हैं जहाँ रोज़मर्रा की जगहों पर पहुँच भी बराबर नहीं थी। मुसलमान नागरिक के लिए इसका महत्व नागरिक हैसियत में है, लेकिन यह प्रावधान सभी नागरिकों के लिए लिखा गया है।

यहाँ एक बात याद रखना फ़ायदेमंद है। संविधान में भेदभाव की मनाही लिखी होने और ज़मीन पर भेदभाव ख़त्म हो जाने में फ़र्क़ है। किसी घटना पर कानूनी दावा तभी सावधानी से किया जा सकता है जब जगह, संस्था, लागू नियम और उपलब्ध सबूत देखे जाएँ। हम आगे ऐसे मुद्दों को नारे में नहीं बदलेंगे; पहले साफ़-साफ़ बताएँगे कि संविधान ने कौन-सा असल कानूनी रास्ता दिया, फिर उसके अमली इस्तेमाल की असल मुश्किल समझेंगे।

अनुच्छेद 15 के भीतर सिर्फ़ भेदभाव की मनाही नहीं है। समय के साथ इसमें ऐसे खंड भी जोड़े गए जिनसे राज्य कुछ वर्गों के लिए विशेष प्रावधान बना सकता है। महिलाओं और बच्चों के लिए व्यवस्था, सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए कदम, और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों से जुड़े प्रावधान इसके अलग हिस्सों में आते हैं। बाद में शिक्षा में प्रवेश से संबंधित खंड भी जुड़ा। इन सबको पढ़ते समय यह नहीं मानना चाहिए कि “मुसलमान” लिखते ही किसी को एक तय कोटा मिल जाता है। कानूनी श्रेणी, पात्रता और लागू सरकारी नियम अलग से जाँचने होंगे।

मुस्लिम समाज के भीतर भी सामाजिक और शैक्षिक परिस्थितियाँ एक जैसी नहीं हैं। कुछ समुदायों के पिछड़ेपन का सवाल सरकारी सूचियों और नीतियों में उठता रहा है। कोई राज्य किसी समूह को अपनी पिछड़ा वर्ग सूची में रखे, तो उस फैसले का आधार और दायरा उस राज्य के रिकॉर्ड से समझना पड़ेगा। केंद्र की सूची और राज्य की सूची को एक मान लेने से गलती होगी। इसी तरह किसी आयोग की सिफ़ारिश को लागू आरक्षण समझ लेना भी सही नहीं है। इस विषय को किताब के बाद वाले अध्याय में उसके दस्तावेज़ों के साथ विस्तार से देखेंगे।

शिक्षा में प्रवेश के मामले में अनुच्छेद 15(5) का ज़िक्र अहम है। इस खंड के तहत राज्य को सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए कुछ शैक्षिक संस्थाओं में विशेष प्रावधान का रास्ता दिया गया, लेकिन अनुच्छेद 30(1) के तहत अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं को उसके दायरे से अलग रखा गया। यह फ़र्क़ समझे बिना आम प्रवेश नियम और अल्पसंख्यक संस्था के अधिकार को आमने-सामने रख देना पाठक को उलझा देगा।

कानून की भाषा में एक छोटा-सा अपवाद भी बड़े असर का हो सकता है। संशोधन समझते समय उसकी तारीख़, बदला हुआ पाठ और उसके आधार पर बना कानून साथ पढ़ना चाहिए। इतना समझें कि बराबरी की चर्चा में विशेष प्रावधानों के लिए भी संवैधानिक जगह है। उनका लाभ किसे असल में मिला, यह सवाल नियमों और भरोसेमंद उपलब्ध सरकारी आँकड़ों से ही तय होगा।

अब सरकारी रोज़गार की तरफ़ आते हैं। अनुच्छेद 16(1) सरकार के अधीन किसी पद पर नियुक्ति या रोज़गार से संबंधित मामलों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता की बात करता है। अनुच्छेद 16(2) में धर्म समेत कुछ आधार साफ़ गिनाए गए हैं जिनके आधार पर किसी नागरिक को ऐसे पद के लिए अपात्र नहीं ठहराया जा सकता और उसके साथ भेदभाव नहीं किया जा सकता। मगर इसे यह वादा समझना गलत होगा कि हर आवेदक को नौकरी मिल जाएगी। पात्रता, परीक्षा, चयन प्रक्रिया और उपलब्ध पद देखे जाते हैं।

इसे निजी कंपनी की हर भर्ती पर लागू समझ लेना भी भूल होगी। उसके शब्द राज्य के अधीन रोज़गार या पद की बात करते हैं। निजी कामकाज के लिए अन्य कानून और परिस्थितियाँ संबंधित हो सकती हैं, मगर यहाँ हमारा सवाल सरकारी सेवा के पद का है। अगर किसी नियुक्ति पर विवाद हो तो पहले नियुक्ति की शर्तें, विज्ञापन, चयन का रिकॉर्ड और शिकायत का आधार पढ़ना होगा। धर्म का नाम आने भर से मामले का निर्णय अपने आप नहीं हो जाता।

इसी अनुच्छेद में कुछ अपवाद और विशेष प्रावधान भी हैं। पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण से संबंधित खंड 16(4) राज्य को ऐसी व्यवस्था का अधिकार देता है जब उसकी राय में उस वर्ग का राज्य सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है। यह किसी धर्म के सभी लोगों के लिए अपने आप खुलने वाला कोटा नहीं है। पात्र समूह की पहचान और सरकारी अधिसूचना अलग सवाल हैं। अनुच्छेद 16 के दूसरे खंडों में बाद के संशोधनों के ज़रिए और प्रावधान आए; उनको उसी तारीख और दायरे में पढ़ना होगा।

मुसलमानों की सरकारी नौकरियों में हिस्सेदारी पर बात करते समय कानून और आँकड़े अलग जगह रखते हैं। किसी सर्वेक्षण में कम हिस्सेदारी दिखना ध्यान देने योग्य है, मगर उससे अपने आप यह तय नहीं हो जाता कि हर नियुक्ति में संविधान टूटा। वहीं संविधान में बराबरी लिखी होना यह भी साबित नहीं करता कि किसी भेदभाव की शिकायत संभव ही नहीं। इसीलिए आगे हम दोनों प्रकार के सबूत अलग रखेंगे: लागू नियम क्या था और असल प्रतिनिधित्व का भरोसेमंद उपलब्ध आँकड़ा क्या कहता है।

“आरक्षण” शब्द बहस में आते ही दो अहम सवाल उलझ जाते हैं। पहला यह कि संविधान राज्य को किन परिस्थितियों में विशेष प्रावधान बनाने की अनुमति देता है। दूसरा यह कि किसी खास सरकार ने किस समूह के लिए कौन-सा नियम असल में बनाया। अनुच्छेद 16(4) में पिछड़े वर्ग और राज्य की सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व का सवाल है। किसी आयोग की रिपोर्ट, सरकारी सूची और लागू भर्ती नियम अलग दस्तावेज़ हैं। हमें उनमें से हर एक का अपना दर्जा समझना होगा।

मिसाल के तौर पर, किसी समुदाय का नाम किसी राज्य की अन्य पिछड़ा वर्ग सूची में हो सकता है। उससे यह नहीं निकलता कि पूरे देश के सभी मुसलमान उसी श्रेणी में हैं। दूसरी तरफ़, सिर्फ़ धार्मिक पहचान देखकर यह कह देना भी सही नहीं कि मुस्लिम समाज के किसी हिस्से को पिछड़े वर्ग से संबंधित व्यवस्था का लाभ मिल ही नहीं सकता। लागू सूची और संबंधित व्यक्ति की पात्रता देखनी होगी। केंद्र और राज्यों की सूचियों में फ़र्क हो सकता है; भर्ती किस सरकार की है, इससे लागू व्यवस्था भी बदल सकती है।

हमारे लिए एक और फ़र्क़ अहम है। नौकरी में आरक्षण और पढ़ाई में प्रवेश के विशेष प्रावधान अलग संवैधानिक खंडों तथा अलग कानूनों से जुड़े हैं। एक जगह का प्रतिशत उठाकर दूसरी जगह लगा देना किताब को गलत बना देगा। इसी तरह किसी विश्वविद्यालय की प्रवेश नीति को राज्य सरकार की नौकरी का नियम समझ लेना भी गलत होगा। किसी भर्ती या प्रवेश के मामले में संबंधित सरकार की लागू सूची, अधिसूचना और उस वर्ष के नियम ही पात्रता तय करने का आधार होंगे।

किसी दावे की जाँच करते हुए यह भी देखना पड़ेगा कि नियम कब से लागू हुआ, क्या उस पर अदालत ने रोक लगाई, और क्या वह फैसला बाद में बदला। कई बार राजनीतिक घोषणा और कानूनी प्रभाव के बीच समय तथा शर्तें होती हैं। पाठक को साफ़ तारीख़ देना इसलिए ज़रूरी है। इस किताब का सवाल सिर्फ़ इतना नहीं होगा कि किसी ने मुसलमानों के लिए आरक्षण कहा था; सवाल यह होगा कि कानून में क्या लिखा गया और उससे किसे असल में लाभ मिला।

बराबरी के अधिकार को सिर्फ़ सरकारी नौकरी की कतार में खड़े व्यक्ति तक सीमित न रखें। बच्चे का स्कूल में प्रवेश, सार्वजनिक सुविधा का उपयोग और नागरिक के साथ प्रशासन का व्यवहार, सबमें अलग कानूनी सवाल उठते हैं। संविधान के अनुच्छेद 15 और 16 का विषय एक जैसा सुनाई दे सकता है, मगर उनके शब्द तथा क्षेत्र अलग हैं। स्कूल में प्रवेश के मामले को सरकारी नियुक्ति की धारा से नहीं समझाया जा सकता। इसी वजह से किताब में हर घटना के सामने पहले उसका सही अनुच्छेद रखा जाएगा।

तालीम के क्षेत्र में अनुच्छेद 29(2) भी याद रखना होगा। राज्य द्वारा चलाए जाने वाले या राज्य से सहायता पाने वाले शिक्षण संस्थान में किसी नागरिक को सिर्फ़ धर्म, नस्ल, जाति या भाषा के कारण प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता। इस अधिकार का नाम संविधान में सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकारों के अंतर्गत आता है, लेकिन इसका लाभ किसी एक अल्पसंख्यक समुदाय तक सीमित नहीं लिखा गया। मुसलमान छात्र भी नागरिक के रूप में इससे जुड़ सकता है। संस्था का दर्जा, सहायता की स्थिति और प्रवेश से इनकार का असल कारण जाँचना ज़रूरी होगा।

अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षण संस्थाएँ खोलने और चलाने का अधिकार देता है। अनुच्छेद 29(2) और अनुच्छेद 30 को अलग पढ़ना आसान है, मगर किसी असल प्रवेश विवाद में दोनों की व्याख्या अदालत के फैसलों और लागू कानून के साथ करनी पड़ सकती है। हर संस्था एक जैसी नहीं होती। सरकारी, सरकारी सहायता प्राप्त और बिना सहायता वाली संस्थाओं में नियमों का फ़र्क़ हो सकता है। आगे इन स्थितियों को उनके संबंधित अध्याय में सावधानी से खोलेंगे।

वजह सीधी है: अगर हम किसी बच्चे को ऐसा अधिकार बता दें जो उस संस्था और उस परिस्थिति में लागू ही नहीं होता, तो उससे उसकी मदद नहीं होगी। बराबरी का मतलब समझाने के लिए धारा और सही तथ्य दोनों चाहिए। इस अध्याय में हमारा काम यही बुनियाद रखना है, ताकि आगे किसी सरकार के फैसले या अदालत के निर्णय को उसकी ठीक जगह पर रख सकें। सवाल जितना ठोस होगा, जवाब उतना साफ़ और भरोसेमंद मिल सकेगा।

संविधान के शब्द “धर्म के आधार पर” और “केवल धर्म के आधार पर” को पढ़ते समय जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। कोई फैसला नागरिक के मज़हब से जुड़ा दिखाई देता है, तो उस पर सवाल उठाना जायज़ है। मगर कानूनी नतीजे के लिए देखना होगा कि नियम की शर्त क्या थी, वह कैसे लागू हुआ और व्यक्ति के साथ क्या हुआ। समानता का सवाल सिर्फ़ भावना से तय नहीं होता; सबूत और लागू कानून चाहिए। यह बात शिकायत को कमज़ोर करने के लिए नहीं, उसे ठीक ढंग से रखने के लिए है।

राज्य की कार्रवाई कई रूपों में सामने आती है। कहीं अधिनियम है, कहीं उसके तहत बना नियम, कहीं विभागीय आदेश और कहीं किसी अधिकारी का व्यक्तिगत फैसला। किसी अधिनियम की भाषा बराबरी के अनुरूप हो सकती है, मगर उसका इस्तेमाल पक्षपात से हुआ हो; उलटे किसी कठोर प्रशासनिक फैसले के पीछे वैध कारण भी हो सकता है। दोनों स्थितियों को बिना रिकॉर्ड देखे एक जैसा नहीं लिख सकते। यहाँ से अदालत तक जाने के रास्ते का महत्व समझ में आता है। संविधान के अनुच्छेद 32 और 226 मौलिक अधिकारों तथा अन्य कानूनी अधिकारों की रक्षा के लिए अलग न्यायिक रास्ते देते हैं; उनकी शर्तें भी अलग हैं।

हम किसी मुक़दमे की चर्चा करेंगे तो यह नहीं कहेंगे कि आवेदन दाखिल होते ही अदालत ने शिकायत सही मान ली। अंतरिम राहत और आखिरी फैसला भी अलग हैं। यदि अदालत ने सिर्फ़ सरकार से जवाब माँगा है, तो उसे कानून रद्द होने के बराबर नहीं बताएँगे। पाठक को मुक़दमे का दर्जा, आदेश की तारीख और उसके शब्द मिलने चाहिए। इस नियम को पूरी किताब में बनाए रखेंगे।

मुसलमान नागरिक के संवैधानिक अधिकार पर लिखते हुए यह भी ज़रूरी है कि उसे हमेशा किसी अलग ख़ाँचे में न रखा जाए। देश के दूसरे नागरिकों के साथ साझा अधिकार उसकी नागरिकता का हिस्सा हैं। जहाँ अल्पसंख्यक के लिए खास संरक्षण लिखा है, वहाँ उसे साफ़ नाम देंगे। इस फ़र्क़ से न साझा अधिकार छोटे होते हैं, न विशेष संरक्षण बेवजह बड़ा दिखाई देता है। दस्तावेज़ जितना कहता है, हमारी बात उतनी ही होगी।

संविधान में बराबरी का वादा कोई अलग-थलग पंक्ति नहीं है। उसे पढ़ते समय प्रस्तावना के न्याय और समानता के आदर्श, मौलिक अधिकारों के शब्द, तथा बाद के संशोधनों को साथ देखना पड़ता है। फिर भी प्रस्तावना का आम विचार किसी अनुच्छेद की खास शर्त का विकल्प नहीं बन सकता। अगर सवाल सरकारी नियुक्ति का है तो अनुच्छेद 16 की भाषा चाहिए; शिक्षण संस्थान में प्रवेश का है तो संबंधित प्रावधान चाहिए। सिर्फ़ “संविधान बराबरी देता है” कह देना पाठक को वह रास्ता नहीं बताएगा जिसकी उसे ज़रूरत है।

कानून में लाभ की बात करते हुए हम अक्सर एक और उलझन देखते हैं। किसी योजना का बजट घोषित हुआ, फिर उसके नियम बने, फिर आवेदन हुए, और अंत में कुछ लोगों तक सहायता पहुँची। इन चार पड़ावों में से किसी एक की खबर पूरे नतीजे का सबूत नहीं है। यदि भविष्य में हम कहें कि किसी सरकार ने मुसलमानों के लिए अवसर बढ़ाए, तो बताएँगे कि किस दस्तावेज़ से यह बात निकलती है। योजना का नाम, लाभार्थियों की संख्या और उसके असर की जाँच—इन तीनों को अलग रखा जाएगा।

इसी तरह किसी सरकार पर आरोप हो कि उसने बराबरी के अधिकार को चोट पहुँचाई, तो उसका मूल फैसला या नियम पढ़ेंगे। जहाँ अदालत ने निर्णय दिया है, वहाँ उसका दायरा देखेंगे। जहाँ अदालत का फैसला अभी नहीं आया है, वहाँ राय को फैसला बनाकर नहीं लिखेंगे। इस तरह किसी पक्ष की आवाज़ दबती नहीं; पाठक को साफ़ पता चलता है कि साबित बात क्या है और बहस किस बात पर चल रही है।

मुसलमानों के बारे में संविधान पढ़ने का यह तरीका शायद कुछ लोगों को धीमा लगे। मगर इससे दो फायदे होते हैं। नागरिक के आम अधिकार दिखाई देते हैं और अल्पसंख्यक के लिए अलग लिखे गए अधिकार भी अपनी सही जगह पर रहते हैं। कोई बात बढ़ाकर लिखने से किताब तेज़ तो लग सकती है, भरोसेमंद नहीं। इसलिए आगे के अध्यायों में भी हम पहले पाठ, फिर कानून का इस्तेमाल और उसके बाद असल असर देखेंगे। इस फ़र्क़ को बनाए रखना आगे की पूरी चर्चा के लिए ज़रूरी है।

अध्याय के आखिर में तीन बातें फिर साफ़ कर लें। अनुच्छेद 14 किसी व्यक्ति के साथ राज्य के व्यवहार में कानून के सामने बराबरी और कानूनों के समान संरक्षण का आधार देता है। अनुच्छेद 15 नागरिकों के विरुद्ध गिनाए गए आधारों पर भेदभाव रोकता है, और उसके भीतर विशेष प्रावधानों की संवैधानिक जगह भी है। अनुच्छेद 16 सरकारी रोज़गार से संबंधित मामलों में नागरिकों के लिए बराबर अवसर तथा अपने खंडों में लिखी विशेष व्यवस्थाओं का रास्ता रखता है। ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े हैं, मगर इनके शब्दों को मिलाकर एक नया कानून नहीं बनाया जा सकता।

मुसलमान नागरिक इन आम अधिकारों के पूरे दायरे में आता है। जहाँ किसी मुसलमान समुदाय का संबंध पिछड़े वर्ग की कानूनी श्रेणी से बताया जाए, वहाँ लागू सूची और आदेश देखने होंगे। किसी रिपोर्ट में नाम आना, राजनीतिक घोषणा होना और सरकारी नियम में अधिकार मिलना, अलग-अलग पड़ाव हैं। किताब के आरक्षण वाले अध्याय में हर दावे की तारीख और मूल दस्तावेज़ साथ रखा जाएगा। अभी हम इतना ही कह सकते हैं कि धर्म के आधार पर भेदभाव का निषेध और पिछड़ेपन से संबंधित संवैधानिक व्यवस्था, दोनों को अपनी-अपनी जगह समझना चाहिए।

एक बात और तय करके आगे बढ़ते हैं। यदि हमें किसी नियम का पूरा रिकॉर्ड नहीं मिलेगा, तो हम उस कमी को साफ़ बताएँगे। किसी समुदाय के साथ अन्याय का सवाल गंभीर है; इसलिए उसके बारे में कमज़ोर सबूत से बड़ा दावा करना उस सवाल की मदद नहीं करता। जहाँ हक़ साफ़ है, वहाँ उसे बिना हिचक लिखेंगे। जहाँ सीमा या विवाद है, वहाँ वही बताएँगे।

अब हम बराबरी से मज़हब की आज़ादी की ओर जाएँगे। अगले अध्याय में संविधान के अनुच्छेद 25 से 28 को पढ़ेंगे। किसी व्यक्ति का अपने मज़हब पर यक़ीन रखना, उस पर अमल करना, धार्मिक संस्था के मामले और सरकारी सहायता पाने वाले विद्यालय में धार्मिक शिक्षा का प्रश्न—इन सबके नियम एक जैसे नहीं हैं। उन्हें अलग-अलग पढ़ना होगा। बराबरी के इन सवालों की तरह वहाँ भी मूल संवैधानिक पाठ ही हमारा पहला सहारा होगा। हर संवैधानिक हक़ का पूरा लागू कानूनी दायरा भी साफ़ बताएँगे।

अध्याय 5 – मज़हब की आज़ादी और उसकी संवैधानिक सीमाएँ

बराबरी के बाद अब उस सवाल पर आते हैं: संविधान किसी व्यक्ति को अपने मज़हब के बारे में क्या आज़ादी देता है? इस सवाल का जवाब एक वाक्य में नहीं समाता। अनुच्छेद 25 से 28 तक अलग-अलग स्थितियों की बात करते हैं। एक तरफ़ व्यक्ति के अंतःकरण, यानी ज़मीर, अपने धर्म को मानने, उसका पालन करने और प्रचार करने की आज़ादी है। दूसरी तरफ़ धार्मिक संप्रदाय के मामलों, किसी खास धर्म के लिए कर लगाने और शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा के सवाल हैं। इन सबको एक ही अधिकार कह देना उनके बीच की सीमाएँ छिपा देगा।

अनुच्छेद 25(1) में “सभी व्यक्तियों” की बात है। यह शब्द नागरिक से व्यापक है। इस अनुच्छेद का लाभ मुसलमान को मिलता है, लेकिन इसे सिर्फ़ मुसलमान समुदाय के नाम से नहीं लिखा गया। मस्जिद में इबादत, रोज़मर्रा के धार्मिक आचरण और अपने विश्वास की अभिव्यक्ति पर चर्चा करते समय यह शुरुआती संवैधानिक आधार हो सकता है। मगर किसी खास विवाद पर जवाब तभी मिलेगा जब हम अनुच्छेद की शर्तें, संबंधित कानून और अदालत के फैसले भी पढ़ें।

किसी हक़ की अहमियत उसकी सीमा छिपाने से नहीं बढ़ती। अनुच्छेद 25 में सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य की शर्तें हैं, तथा भाग तीन के दूसरे प्रावधानों का संदर्भ भी है। राज्य कुछ धर्मनिरपेक्ष गतिविधियों को नियमों में बाँध सकता है जो धार्मिक आचरण से जुड़ी हों, और सामाजिक कल्याण तथा सुधार के लिए कानून बना सकता है। इससे हर सरकारी पाबंदी सही नहीं हो जाती; और यह कहना भी ठीक नहीं कि धर्म से संबंधित किसी काम पर राज्य कभी नियम बना ही नहीं सकता।

इस अध्याय में अनुच्छेद के शब्द और अलग मामलों का असल कानूनी दायरा समझेंगे। किसी धार्मिक स्थल का प्रबंध, किसी संस्था की संपत्ति, सार्वजनिक रास्ते का उपयोग और किसी व्यक्ति की निजी आस्था, सबके कानूनी सवाल अलग हो सकते हैं। किताब का मक़सद किसी विवाद पर बिना रिकॉर्ड देखे फैसला सुनाना नहीं है। हम पाठक को वह नक्शा देना चाहते हैं जिसके सहारे वह पूछ सके कि किस अधिकार की बात हो रही है और उसकी सीमा कहाँ लिखी है।

अनुच्छेद 25 में चार बातें अक्सर साथ आती हैं: अंतःकरण की आज़ादी और धर्म को मानने, उसका पालन करने तथा प्रचार करने की आज़ादी। किसी व्यक्ति के भीतर का विश्वास और समाज में दिखाई देने वाला आचरण एक ही तरह की कानूनी परिस्थिति नहीं बनाते। कोई व्यक्ति क्या मानता है, उसका सवाल अलग है; सार्वजनिक स्थान पर कोई काम किस तरह करता है, वहाँ दूसरे लोगों के अधिकार और लागू कानून भी सामने आ सकते हैं। संविधान इसीलिए अधिकार के साथ उसकी शर्तें भी लिखता है।

मुसलमानों के बारे में बोलते हुए “धर्म की आज़ादी” को सिर्फ़ नमाज़ तक सीमित कर देना काफ़ी नहीं होगा। रोज़ा, धार्मिक सभा, शिक्षा, ख़ैरात और समुदाय के संस्थानों के सवाल भी उठ सकते हैं। मगर हर मुद्दे का नियम अनुच्छेद 25 की एक ही पंक्ति से तय नहीं होता। धार्मिक संस्था की हैसियत में अनुच्छेद 26 संबंधित हो सकता है; संपत्ति और प्रबंध पर अलग कानून लागू हो सकते हैं। इस किताब के वक्फ़ अध्याय में यही फ़र्क़ विशेष रूप से ज़रूरी होगा।

“प्रचार” शब्द को लेकर भी लोगों के सवाल आते हैं। संविधान ने इस शब्द को अनुच्छेद में रखा है, लेकिन किसी खास घटना के कानूनी नतीजे के लिए लागू कानून और अदालत की व्याख्या देखनी होगी। किसी दूसरे व्यक्ति की आज़ादी या सार्वजनिक व्यवस्था का सवाल हो तो सिर्फ़ एक शब्द दिखाकर पूरी बहस खत्म नहीं की जा सकती। हम इस अधिकार को जितना लिखा है उतना ही बताएँगे; न उससे कम, न किसी ऐसी छूट के रूप में जिसे संविधान ने बिना शर्त दिया हो।

धार्मिक गतिविधियाँ दूसरे लोगों के साथ साझा जगहों में होती हैं। ऐसी जगह पर समय, सुरक्षा और व्यवस्था के नियम सामने आ सकते हैं। कोई नियम उचित है या मनमाना, यह उसके आधार और लागू करने के तरीके से समझा जाएगा। यदि एक ही नियम अलग समूहों पर अलग ढंग से लागू हुआ है, तो बराबरी का सवाल भी जुड़ सकता है। इस तरह अनुच्छेद 25 को पढ़ते हुए हमें पिछले अध्याय में देखे गए अनुच्छेद 14 और 15 की चर्चा भी याद रखनी होगी।

संविधान में सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य का ज़िक्र आते ही दो छोर दिखाई देते हैं। एक तरफ़ कहा जाता है कि धर्म की आज़ादी होने पर राज्य कोई नियम बना ही नहीं सकता। दूसरी तरफ़ हर पाबंदी को इन तीन शब्दों का नाम देकर जायज़ मान लिया जाता है। किसी पाबंदी के लिए राज्य ने कौन-सा कानून या आदेश इस्तेमाल किया, उससे कौन-सा खतरा रोका जाना था और उसका दायरा कितना रखा गया, इन सवालों के बिना राय अधूरी होगी।

मिसाल के तौर पर, सार्वजनिक रास्ते पर सभा का सवाल और किसी घर के भीतर धार्मिक विश्वास का सवाल एक जैसे नहीं हैं। किसी भवन की सुरक्षा, स्वास्थ्य से जुड़ी व्यवस्था या शोर के नियम भी अलग परिस्थितियों में सामने आ सकते हैं। हर मामले में लागू कानून, तथ्य और अदालत की उपलब्ध व्याख्या देखनी होगी। यह तरीका किसी की आस्था को कम नहीं करता; वह उस आस्था के बारे में कानूनी दावा ठीक तरह से रखने में मदद करता है।

मुस्लिम समाज के धार्मिक आचरण पर चर्चा करते हुए एक और बात नज़र में रहे। समुदाय के भीतर मान्यताओं और तरीकों में भी विविधता है। किसी एक व्यक्ति या संस्था की राय को पूरे मुस्लिम समाज की आखिरी राय नहीं माना जा सकता। जहाँ धर्म के भीतर मतभेद हों, वहाँ राज्य के कानून का सवाल अलग रखेंगे। किसी धार्मिक राय को संवैधानिक प्रावधान बताना दोनों की समझ बिगाड़ देगा।

अदालतों ने अनुच्छेद 25 के विवादों में अनेक बार यह सवाल देखा है कि दावा किए गए आचरण और धार्मिक आज़ादी का रिश्ता क्या है। किसी खास फैसले का हवाला देते समय हमें उसकी तारीख, तथ्य और बाद के फैसलों की स्थिति पढ़नी होगी। फैसले की एक पंक्ति निकालकर आज के हर मामले में लगा देना भरोसेमंद तरीका नहीं है।

आगे जब हम किसी सरकार के आदेश के असर की बात करेंगे, तो यह भी देखेंगे कि वह पूरे देश के लिए था या किसी राज्य तथा स्थानीय क्षेत्र तक सीमित। “मज़हब की आज़ादी पर रोक” जैसे बड़े शब्द तभी लिखे जाएँगे जब मूल आदेश सचमुच उतना बड़ा असर दिखाए।

अनुच्छेद 25(2) को पढ़े बिना धार्मिक तस्वीर पूरी नहीं बनती। उसमें राज्य को धार्मिक आचरण से जुड़ी आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या दूसरी धर्मनिरपेक्ष गतिविधियों को नियमों में बाँधने का रास्ता दिया गया है। सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए कानून बनाने की बात भी उसी खंड में है। यह पाठ पढ़ते ही एक सवाल उठता है: कौन-सी गतिविधि अपने स्वभाव से धार्मिक है और कौन-सी उसके प्रबंध या वित्त से संबंधित? इसका जवाब सिर्फ गतिविधि का नाम देखकर नहीं मिलता। कानून और मामले के तथ्य देखने होंगे।

किसी मस्जिद, मदरसे या धार्मिक ट्रस्ट की ज़मीन और आय का हिसाब रखने की व्यवस्था को मान्यता और इबादत की आज़ादी के साथ गड़मड़ नहीं करना चाहिए। धार्मिक संस्थाओं के प्रशासन पर नियम बन सकते हैं, लेकिन उनका दायरा और असर जाँचना होगा। वक्रफ़ से जुड़े कानूनों पर चर्चा करते समय यही सवाल बार-बार आएगा। कोई नया नियम संस्था के प्रबंध पर है या धार्मिक आचरण पर, यह मूल पाठ से साफ़ करना होगा। एक शब्द “वक्रफ़” सुनते ही अनुच्छेद 25 का पूरा मामला तय नहीं हो जाता।

दूसरी ओर, “धर्मनिरपेक्ष गतिविधि” कह देने भर से राज्य को असीमित अधिकार नहीं मिल जाता। कोई संस्था अपने प्रबंधन के बारे में अनुच्छेद 26 का दावा भी कर सकती है। कानून बनाते समय और उसे लागू करते समय दूसरे मौलिक अधिकारों का सम्मान भी सवाल में रहेगा। इसलिए संवैधानिक बहस में कई अनुच्छेद साथ आते हैं। हमारी किताब हर विषय को उसी अनुच्छेद से जोड़ने की कोशिश करेगी जिसकी भाषा असल में वहाँ लागू होती है।

कुछ पाठक पूछेंगे कि क्या संविधान ने सिर्फ़ राज्य की पाबंदियों की सूची बनाई है। जवाब यह है कि उसने आज़ादी लिखी है और उसके साथ विशिष्ट सीमाएँ रखी हैं। असल विवाद में आज़ादी तथा सीमा, दोनों की जाँच साथ चलेगी। इसीलिए धार्मिक आज़ादी पर बात करते समय फैसले का पूरा संदर्भ आवश्यक है। किस कानून के तहत आदेश हुआ, किस संस्था को संबोधित किया गया और अदालत ने किस सवाल पर निर्णय दिया—इन सवालों से ही पता चलेगा कि आम मुसलमान के अधिकार पर उसका असर कितना है।

अनुच्छेद 26 व्यक्तिगत हक़ से आगे धार्मिक संप्रदाय या उसके किसी हिस्से के अधिकार की बात करता है। सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन उसे धार्मिक तथा परोपकारी संस्थाएँ स्थापित और बनाए रखने, धर्म के मामलों का प्रबंध करने, चल और अचल संपत्ति रखने तथा कानून के अनुसार उसका प्रशासन करने का अधिकार लिखा गया है। इन अलग हिस्सों को पढ़ते हुए यह समझना होगा कि धार्मिक मामलों का प्रबंध और संपत्ति का प्रशासन बिल्कुल एक ही चीज़ नहीं हैं। संविधान ने संपत्ति के प्रशासन के साथ “कानून के अनुसार” शब्द रखे हैं।

किसी मुसलमान संस्था के बारे में सवाल उठे तो सबसे पहले उसकी कानूनी पहचान देखनी पड़ेगी। क्या वह किसी समुदाय की संस्था है, किस दस्तावेज़ से स्थापित हुई, और उसका प्रबंध किस व्यवस्था में चलता है? इन तथ्यों के बिना अनुच्छेद 26 की आम भाषा को किसी खास संस्था पर सीधे नहीं चिपकाया जा सकता। वक्रफ़ बोर्ड, स्थानीय कमेटी और किसी निजी संस्था को एक ही नाम देकर एक जैसा संवैधानिक दर्जा समझ लेना पाठक को गलत दिशा में ले जा सकता है।

धार्मिक आज़ादी की बहस में संस्थाओं की संपत्ति पर अक्सर तीखी प्रतिक्रिया होती है। संपत्ति की सुरक्षा, प्रबंध पर निगरानी और धर्म के मामलों में अपनी आज़ादी अलग सवाल हैं। किसी सरकार ने एक रजिस्टर बनवाया या लेखा परीक्षा का नियम बदला, तो उसके असल असर को देखना होगा। क्या सिर्फ़ हिसाब माँगा गया, या संस्था के अपने फैसले का अधिकार भी बदला? इसी तरह किसी आदेश पर अदालत की अंतरिम रोक का मतलब अंतिम कानूनी नतीजा नहीं है। प्रत्येक बात उसकी तारीख के साथ लिखी जाएगी।

यह एहतियात बहुत ज़रूरी है कि “सरकार ने मज़हब में दखल दिया” और “सरकार ने संपत्ति के हिसाब का नियम बनाया” दोनों में गंभीर अंतर है। कभी असल मामला पहले कथन तक पहुँच सकता है; कभी दूसरे तक सीमित हो सकता है। हमारी राय किसी शीर्षक पर नहीं, मूल आदेश और उसके असर पर टिकेगी। जहाँ कानूनी स्थिति विवाद में हो, वहाँ विवाद का दर्जा भी पाठक को उसके सभी मूल दस्तावेज़ों के साथ साफ़ बताएँगे।

अनुच्छेद 27 में कर के बारे में एक विशेष सुरक्षा है। किसी व्यक्ति को ऐसा कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा जिसकी आय किसी खास धर्म या धार्मिक संप्रदाय के प्रचार या रखरखाव के खर्च के लिए विशेष रूप से निर्धारित हो। “कर”, उसकी आय और उसे किस खर्च के लिए अलग रखा गया है, तीनों देखने होंगे। यह नहीं कहा गया कि धार्मिक काम से जुड़ी किसी संस्था पर सार्वजनिक धन का कोई भी इस्तेमाल हर हालत में निषिद्ध है। उस तरह का बड़ा निष्कर्ष इस अनुच्छेद के शब्दों से सीधे नहीं निकलता।

कर और शुल्क में फ़र्क़ भी उलझन पैदा कर सकता है। कोई रकम किस कानूनी आधार पर ली गई, उसका मक़सद क्या है और उसका उपयोग कैसे किया गया, इन सभी बातों को ध्यान से देखे बिना उसे अनुच्छेद 27 का उल्लंघन कहना जल्दबाज़ी होगी। किसी विवाद में अदालत ने यदि इन सवालों पर बात की है तो पूरा फैसला पढ़ेंगे। एक राजनीतिक नारा, चाहे किसी भी तरफ़ से आए, संवैधानिक पाठ का स्थान नहीं ले सकता।

मुसलमान नागरिक के लिए यह संरक्षण उसी तरह उपलब्ध है जैसे दूसरे व्यक्तियों के लिए। इसकी भाषा किसी एक समुदाय के पक्ष या विरोध में नहीं लिखी गई। धर्म और राज्य के आर्थिक संबंध पर बात करते समय इसका महत्व सामने आता है। मसलन, सरकार किसी सार्वजनिक व्यवस्था पर आम खर्च करे तो उसका विश्लेषण उस कर से अलग हो सकता है जिसकी आय किसी खास धर्म के प्रचार के लिए अलग रखी गई हो। असल मामला क्या है, यह सरकारी बजट के शीर्षक, कानून और धन के असल इस्तेमाल से साफ़ होगा।

संविधान की हर धार्मिक धारा का क्षेत्र अलग है। अनुच्छेद 25 व्यक्ति की आज़ादी से शुरू होता है, अनुच्छेद 26 धार्मिक संप्रदाय के अधिकार से और अनुच्छेद 27 कर की एक विशिष्ट मनाही से। इन्हें जोड़कर राज्य तथा धर्म के बीच किसी भी आर्थिक लेन-देन का आसान फैसला सुना देना भरोसेमंद नहीं होगा। इस किताब में आगे जब हम संस्थाओं के वित्त या सरकारी सहायता पर आएँगे, तो इसी कानूनी अंतर को याद रखेंगे।

अनुच्छेद 28 हमें शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा और उपासना के सवाल तक लाता है। पहला खंड कहता है कि पूरी तरह राज्य के धन से चलने वाली शिक्षा संस्था में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाएगी। दूसरे खंड में उस संस्था के लिए अपवाद है जिसे राज्य प्रशासन के अधीन चलाता हो, मगर जिसकी स्थापना ऐसे दान या न्यास के तहत हुई हो जो धार्मिक शिक्षा को ज़रूरी बनाता है। तीसरा खंड राज्य से मान्यता प्राप्त या सहायता पाने वाली संस्था में किसी छात्र को उसकी सहमति के बिना धार्मिक शिक्षा या उपासना में भाग लेने के लिए बाध्य करने से रोकता है; नाबालिग के मामले में अभिभावक की सहमति देखी जाती है।

यह कहना कि “हर स्कूल में धर्म पढ़ाना मना है” गलत होगा। संस्था को कौन चलाता है, पैसा कहाँ से आता है और छात्र से क्या माँग की जा रही है, ये सवाल अलग हैं। मंदिरसे, निजी स्कूल, सरकारी स्कूल तथा सरकारी सहायता पाने वाली संस्था को एक कानूनी डिब्बे में रखना ठीक नहीं। हर संस्था का कानूनी दर्जा और उस पर लागू सरकारी नियम देखना होगा। इस विषय में किसी सरकार का नया शिक्षा नियम आए तो पहले उसी का पाठ पढ़ेंगे।

मुसलमान परिवार के लिए यह सवाल बच्चे की पढ़ाई और संस्था चलाने के रूप में आता है। धार्मिक शिक्षा की इच्छा और दूसरे छात्र को उसमें भाग लेने के लिए बाध्य न किए जाने का अधिकार, दोनों का सम्मान करना होगा। संविधान ने यहाँ संस्था तथा छात्र की स्थिति को अलग-अलग शब्दों में रखा है। इसलिए बहस में सिर्फ़ एक पक्ष की भावना देखकर दूसरे का लिखित अधिकार नहीं भूल सकते।

अनुच्छेद 28 की चर्चा अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के अधिकार से भी जुड़ सकती है, मगर उसका पूरा उत्तर अनुच्छेद 30 के साथ पढ़ने पर ही आएगा। अगले अध्यायों में हम यह देखेंगे कि संस्था स्थापित करने की आज़ादी और उसके भीतर शिक्षा तथा प्रबंध के नियम किस तरह संबंधित होते हैं। इतना याद रखें कि धार्मिक शिक्षा पर संविधान का जवाब संस्था की कानूनी हैसियत और छात्र की सहमति पर निर्भर करता है।

धार्मिक आज़ादी के इन अनुच्छेदों को पढ़ते हुए राज्य के अलग-अलग स्तरों का सवाल सामने आता है। संविधान पूरे देश का है, मगर किसी शहर में सार्वजनिक व्यवस्था का आदेश स्थानीय प्रशासन दे सकता है; शिक्षा का नियम राज्य या संबंधित संस्था की व्यवस्था से आ सकता है; और किसी संपत्ति का विवाद अलग कानून के तहत चल सकता है। इसलिए कोई खबर पढ़कर तुरंत “संविधान बदल गया” कहना ठीक नहीं। पहले यह पता करना होगा कि बदलाव किस कानूनी स्तर पर हुआ।

यदि संसद ने कोई नया अधिनियम बनाया है, तो उसका प्रकाशित पाठ और लागू होने की तारीख देखेंगे। यदि राज्य सरकार ने नियम बनाए हैं, तो उनके अधिकार का स्रोत खोजेंगे। यदि अदालत ने आदेश दिया है, तो ठीक-ठीक देखेंगे कि वह अंतरिम है या अंतिम और किन पक्षों पर लागू है। कोई फैसला बड़े दायरे का हो तो उसे उसी रूप में लिखेंगे।

एक आम सवाल यह भी आता है कि किसी समुदाय की हर परंपरा को संवैधानिक संरक्षण समान रूप से मिलता है या नहीं। इसका उत्तर किसी एक लेखक की पसंद से नहीं दिया जा सकता। दावे की शक्ति, लागू कानून और अदालत की संबंधित व्याख्या देखनी होगी। संविधान में आज़ादी के शब्द व्यापक हैं, मगर किसी खास आचरण पर फैसला मामले के तथ्यों से जुड़ा है। यहाँ हमारी कोशिश समुदाय की आस्था का फैसला करना नहीं, कानून की स्थिति पाठक तक ठीक-ठीक पहुँचाना है।

किसी आदेश की खबर और ज़मीन पर उसके पालन का हाल एक ही बात नहीं हैं। यदि हम भविष्य के अध्याय में किसी नियम के अमली असर पर लिखेंगे, तो सिर्फ़ आदेश की प्रति से आगे बढ़कर उपलब्ध अमल का रिकॉर्ड भी देखेंगे। जहाँ ऐसा रिकॉर्ड नहीं होगा, वहाँ असर के बारे में अनुमान को तथ्य की तरह नहीं लिखेंगे।

धर्म का सवाल लोगों की ज़िंदगी से गहराई से जुड़ा है। इसी वजह से उसके बारे में तारीख, शब्द और असर की जाँच और भी ज़्यादा ज़रूरी हो जाती है। किसी मामले में जनभावना कितनी भी तेज़ क्यों न हो, सबूत का यह नियम हमारी किताब में नहीं बदलेगा।

इस अध्याय का आखिरी पन्ना किसी एक विवाद का फैसला सुनाने के लिए नहीं है। हमने अनुच्छेद 25 में व्यक्ति के ज़मीर और धर्म से संबंधित आज़ादी पढ़ी; अनुच्छेद 26 में धार्मिक संप्रदाय के संस्थागत अधिकार देखे; अनुच्छेद 27 में खास धर्म के प्रचार या रखरखाव के लिए नियत कर की मनाही देखी; और अनुच्छेद 28 में शिक्षण संस्थाओं तथा छात्र की सहमति का फ़र्क़ समझा। इनके बीच संबंध है, मगर हर अनुच्छेद का अपना विषय और अपनी शर्त है।

मुसलमानों के लिए इस संवैधानिक व्यवस्था का महत्व साफ़ है। वे अपनी धार्मिक पहचान और आचरण के सवाल संविधान के सामने रख सकते हैं। साथ ही यह व्यवस्था सिर्फ़ उनके नाम से नहीं लिखी गई। एक लोकतांत्रिक मुल्क में दूसरे विश्वासों के लोगों को भी उसी संवैधानिक ढाँचे में जगह मिलती है। अधिकार की मजबूती इसी बात से आती है कि सरकारी शक्ति के सामने एक लिखित कसौटी मौजूद है और उसका मतलब अदालत में परखा जा सकता है। हम आगे किसी सरकार की नीयत का अनुमान लगाकर कानून का मतलब तय नहीं करेंगे। कानून का पाठ, सदन का रिकॉर्ड, राजपत्र की अधिसूचना और अदालत का आदेश अलग-अलग पढ़ेंगे। किसी नेता का बयान नीति का संकेत हो सकता है, मगर उससे अपने आप कानून नहीं बदलता। इसी तरह अदालत में चुनौती दाखिल होने से कोई प्रावधान अपने आप रद्द नहीं होता। पाठक को यह फ़र्क़ हर बार बताया जाएगा, खासकर जब विषय धार्मिक भावनाओं से जुड़ा हो।

अगले अध्याय में ज़बान और संस्कृति की तरफ़ चलेंगे। उर्दू के साथ मुस्लिम समाज का ऐतिहासिक रिश्ता रहा है, लेकिन संविधान में भाषा और धर्म की श्रेणियाँ एक नहीं हैं। अनुच्छेद 29 किसी विशिष्ट भाषा, लिपि या संस्कृति वाले नागरिक समूह की बात करता है। आगे मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा तथा भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए बनी व्यवस्था का सवाल भी आएगा। हम देखेंगे कि किसी अधिकार का लिखित होना, सरकारी नीति में उसका स्थान और किसी बच्चे को स्कूल में उसकी भाषा में पढ़ाई मिलना, तीन अलग पड़ाव हैं। इन्हें अलग रखकर ही असल और पूरी भरोसेमंद तस्वीर पाठक के सामने साफ़ आएगी।

अध्याय 6 – भाषा, संस्कृति, उर्दू और तालीम

हिंदुस्तान में मुसलमानों की बात करते हुए उर्दू का जिक्र आएगा ही। मुसलमानों की मातृभाषा सिर्फ उर्दू नहीं है, और उर्दू बोलने वाला हर व्यक्ति मुसलमान नहीं है। देश के अलग इलाकों में मुसलमान परिवार अपनी-अपनी ज़बानों में बोलते, पढ़ते और लिखते हैं। इसलिए संविधान में ज़बान के अधिकार को किसी एक मज़हब की मिल्कियत बनाकर पढ़ना गलत होगा। उर्दू से जुड़े असल सवाल अहम हैं: उसे पढ़ाने की सुविधा कहाँ है, सरकारी काम में उसका दर्जा क्या है और बच्चे को अपनी मातृभाषा में शुरुआती तालीम किस हद तक मिलती है?

अनुच्छेद 29(1) भारत के क्षेत्र या उसके किसी हिस्से में रहने वाले नागरिकों के ऐसे किसी भी वर्ग को, जिसकी अपनी अलग भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे सुरक्षित रखने का अधिकार देता है। “किसी भी वर्ग” के शब्द पर ध्यान दें। यह अधिकार सिर्फ धार्मिक अल्पसंख्यक नाम की श्रेणी में बंद नहीं है। उर्दूभाषी नागरिकों के सवाल में इसका महत्व हो सकता है, मगर दावा करने वाले समूह और उस मामले के तथ्य भी देखे जाएँगे। सिर्फ ज़बान के सांस्कृतिक संरक्षण से अपने आप हर स्कूल में उसकी पढ़ाई शुरू हो जाने का निष्कर्ष नहीं निकलता।

अनुच्छेद 29 का दूसरा खंड शिक्षा में प्रवेश से संबंधित है, जिसे हम बराबरी के अध्याय में देख चुके हैं। एक ही अनुच्छेद के दो खंडों का विषय अलग है। पहला भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रखने की बात करता है; दूसरा राज्य द्वारा चलाए या सहायता पाए शिक्षण संस्थान में नागरिक को सिर्फ गिनाए गए आधारों पर प्रवेश से वंचित न करने की बात। यदि हम पूरे अनुच्छेद को सिर्फ उर्दू पढ़ाने का नियम बता दें, तो उसका आधा मतलब गायब हो जाएगा।

आगे हम उर्दू के संवैधानिक स्थान, राज्यों की नीतियों और प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था को संदर्भ के साथ अलग-अलग पढ़ेंगे। किसी भाषा का संविधान की आठवीं अनुसूची में होना, किसी राज्य में उसका प्रशासनिक इस्तेमाल और स्थानीय स्कूल में अध्यापक का उपलब्ध होना, तीनों एक नहीं हैं। इस फ़र्क को समझे बिना उर्दू के पक्ष में कोई दावा भी ठीक तरह से नहीं रखा जा सकता।

अनुच्छेद 29(1) में “भाषा, लिपि या संस्कृति” तीन अलग शब्द हैं। कोई समुदाय अपनी ज़बान बोलता है, उसकी लिपि में लिखता है और कई सांस्कृतिक तरीक़े निभाता है। ये बातें एक-दूसरे से जुड़ी हो सकती हैं, मगर एक ही नहीं हैं। उर्दू के मामले में भाषा और उसकी लिपि पर बात करते समय यह याद रखना होगा कि सांस्कृतिक अधिकार का दावा स्कूल, प्रशासन और प्रकाशन जैसे अलग क्षेत्रों में अलग अमली सवाल उठाता है। संविधान का आम संरक्षण उन सबकी हर छोटी प्रक्रिया अपने भीतर नहीं लिख देता।

मिसाल के लिए, किसी शहर में उर्दू की किताबें छपती हैं और लोग उसे पढ़ते हैं। यह भाषा के जीवित होने का एक पहलू है। उसी शहर के सरकारी विद्यालयों में उर्दू पढ़ाने की व्यवस्था है या नहीं, यह दूसरा सवाल है। और सरकारी दफ़्तर में आवेदन उर्दू में स्वीकार होगा या नहीं, तीसरा। पहले का सामाजिक सबूत, दूसरे का शिक्षा विभाग का रिकॉर्ड और तीसरे का लागू सरकारी नियम अलग-अलग खोजने होंगे। एक तस्वीर से तीनों का जवाब नहीं दिया जा सकता।

किसी परिवार के लिए सबसे नज़दीकी सवाल बच्चे की तालीम का होता है। घर में जिस भाषा से बच्चा दुनिया समझता है, स्कूल की भाषा उससे बहुत अलग हो तो पढ़ाई में कठिनाई आ सकती है। लेकिन इस सामाजिक बात से कोई खास कानूनी दावा निकालने के लिए संविधान, राज्य की नीति और विद्यालय के नियम देखने होंगे। आगे अनुच्छेद 350A इसी सिलसिले में आएगा। उसमें प्राथमिक स्तर पर भाषायी अल्पसंख्यक बच्चों को मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ देने के प्रयास की बात रखी गई है।

उर्दू की सरकारी स्थिति जानने के लिए संबंधित राज्य का कानून या आदेश देखें। विद्यालय की सुविधा के लिए स्वीकृत पद, नियुक्त शिक्षक और उपलब्ध किताबों का अलग रिकॉर्ड चाहिए। किसी भाषा को मिला दर्जा और बच्चे तक पहुँची सुविधा एक ही बात नहीं हैं।

उर्दू भारत की आठवीं अनुसूची में दर्ज भाषाओं में है। इस बात का अपना संवैधानिक महत्व है, मगर इससे देश की हर सरकारी फाइल अपने आप उर्दू में चलने नहीं लगती। संविधान की आठवीं अनुसूची, संघ की राजभाषा संबंधी व्यवस्था और किसी राज्य की आधिकारिक भाषा का कानून, अलग विषय हैं। आम चर्चा में ये अक्सर गड़मड़ हो जाते हैं। कोई पूछे कि उसके जिले के कार्यालय में उर्दू में आवेदन दिया जा सकता है या नहीं, तो उत्तर उस स्थान के लागू नियम से आएगा; सिर्फ आठवीं अनुसूची का नाम दिखाकर बात पूरी नहीं होगी।

संविधान के अनुच्छेद 345 में राज्य की राजभाषा या राजभाषाओं के बारे में राज्य विधानमंडल को कानून बनाने की व्यवस्था है। अनुच्छेद 347 किसी राज्य की आबादी के एक हिस्से द्वारा बोली जाने वाली भाषा को कुछ प्रयोजनों के लिए मान्यता देने से संबंधित विशेष प्रक्रिया रखता है। इन दोनों को भी बिना शर्त “उर्दू को हर जगह दूसरी राजभाषा” लिख देने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। किस राज्य में कौन-सा कानून बना, कब लागू हुआ और उसका प्रशासनिक दायरा क्या है, यह अलग से देखना होगा।

राजनीतिक वादे, सरकारी आदेश और असल सेवाओं की उपलब्धता में अक्सर बहुत बड़ा फ़र्क़ है। किसी प्रदेश की स्थिति उसके राजपत्र, कानून और भरोसेमंद प्रशासनिक रिकॉर्ड से समझी जा सकती है। किसी नियुक्ति की घोषणा और नियुक्त शिक्षक का विद्यालय तक पहुँचना भी एक ही बात नहीं। भाषा नीति के असर को समझने के लिए यह दूरी देखनी होगी।

मुस्लिम समाज में उर्दू की अहमियत को समझने के लिए उसे सभी मुसलमानों की एकमात्र पहचान बनाना ज़रूरी नहीं। कई लोग उर्दू की शायरी, दीन की किताबों और अखबारों से जुड़े हैं; बहुत-से परिवार दूसरी ज़बानों में भी उतनी ही सहजता से जीते हैं। कानून का काम इन वास्तविकताओं को मिटाकर एक पहचान थोपना नहीं है। हमारे लिए सवाल यह है कि संविधान ने किस तरह का संरक्षण दिया और सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्र में उसे किस रूप में बरता। यही फ़र्क़ आगे उर्दू से जुड़े हर सरकारी फैसले की जाँच में काम आएगा।

अनुच्छेद 350 हर व्यक्ति को शिकायत के निवारण के लिए संघ या राज्य के किसी अधिकारी अथवा प्राधिकरण को संघ अथवा संबंधित राज्य में इस्तेमाल होने वाली किसी भाषा में आवेदन देने का अधिकार देता है। कार्यालय में इसके व्यवहार के लिए उस राज्य में प्रयुक्त भाषाओं और संबंधित प्रक्रिया को देखना होगा। फिर भी नागरिक के लिए यह याद रखने योग्य है कि शिकायत की ज़बान का सवाल संविधान में बिल्कुल गायब नहीं है।

उर्दूभाषी व्यक्ति के लिए अमली सवाल दफ़्तर के दरवाज़े पर शुरू होता है। आवेदन कौन पढ़ेगा, उसका जवाब किस ज़बान में मिलेगा और क्या फ़ॉर्म उपलब्ध है? इन बातों का जवाब संविधान की एक पंक्ति से पूरा नहीं होता। विभाग के नियम और कार्यालय की व्यवस्था सामने आती है। हम आगे यदि किसी राज्य में उर्दू के प्रशासनिक उपयोग पर लिखेंगे, तो आदेश और ज़मीन पर चल रही सेवा का फ़र्क बनाए रखेंगे। किसी कागज़ पर भाषा का नाम दर्ज होना और नागरिक का काम करा पाना अलग बातें हैं।

अनुच्छेद 347 का उपयोग भी सावधानी से समझें। राष्ट्रपति को लगे कि राज्य की आबादी का पर्याप्त हिस्सा अपनी ज़बान को मान्यता दिलाना चाहता है, तो वह कुछ सरकारी कामों में उस ज़बान के इस्तेमाल का निर्देश दे सकता है। यह कोई स्वतः जारी हुआ आदेश नहीं कि हर माँग के साथ भाषा को हर सरकारी प्रयोजन में स्थान मिल जाता है। शब्दों के भीतर प्रक्रिया और दायरा दोनों हैं। असल मामले पर बोलने के लिए जारी निर्देश का रिकॉर्ड चाहिए।

ज़बान के अधिकार में एक मुश्किल यह है कि कागज़ पर मौजूद सुविधा का पता नागरिक को ही न हो। यदि अधिकार की जानकारी न पहुँचे तो उसका इस्तेमाल भी कम होगा। मगर इस कमी का आकार बताने के लिए अध्ययन या प्रशासनिक आँकड़े चाहिए। हम किसी राज्य की पूरी स्थिति अपने अनुमान से नहीं बताएँगे। जहाँ दस्तावेज़ उपलब्ध होंगे, वहाँ पाठक देख सकेगा कि उर्दू का दर्जा किन कामों में है और किन कामों में अभी नहीं। भाषा का सम्मान उस सचाई से शुरू होता है जिसे दस्तावेज़ों से जाँचकर लिखा जा सके।

अनुच्छेद 350A का विषय प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ हैं। इसका पाठ राज्य और उसके भीतर की स्थानीय संस्थाओं से भाषायी अल्पसंख्यक बच्चों के लिए ऐसी सुविधा उपलब्ध कराने के प्रयास की बात करता है। राष्ट्रपति को इस मक़सद के लिए राज्य को निर्देश देने की व्यवस्था भी है। यहाँ “प्रयास” और “पर्याप्त सुविधाएँ” के शब्दों को ध्यान से पढ़ना चाहिए। इन्हें हर बच्चे के लिए उसी दिन, उसी विद्यालय में एक निश्चित संख्या में शिक्षकों का सीधा वादा मान लेना पाठ से आगे जाना होगा।

यह प्रावधान मूल संविधान के लागू होने के बाद जोड़ा गया था। इसलिए 1950 के अधिकारों की चर्चा में इसे शुरू से मौजूद बताना सही नहीं होगा। संविधान के सातवें संशोधन, 1956 के तहत अनुच्छेद 350A और 350B आए। किताब में किसी अधिकार की तारीख इसलिए दी जाएगी कि पाठक समझे कौन-सी व्यवस्था आरंभ से थी और कौन-सी बाद में जुड़ी। संशोधन का नाम याद रखने से ज़्यादा ज़रूरी उसका बदला हुआ पाठ और लागू समय समझना है।

मुसलमान परिवारों के लिए मातृभाषा का सवाल अलग-अलग रूप ले सकता है। किसी घर की ज़बान उर्दू है, किसी की बंगाली, मलयालम, कश्मीरी या दूसरी भाषा। भाषायी अल्पसंख्यक की पहचान उस राज्य के संदर्भ में भी समझनी होगी जहाँ बच्चा पढ़ रहा है। धर्म की पहचान से उसकी मातृभाषा का अंदाज़ा लगाना आसान है, लेकिन अक्सर गलत भी हो सकता है। यदि हम उर्दू माध्यम की मांग पर लिखें, तो पहले क्षेत्र के भाषायी आँकड़े, विद्यालयों की व्यवस्था और राज्य की शिक्षा नीति देखेंगे।

स्कूल में शिक्षक, किताब और पढ़ाई का माध्यम किस हालत में उपलब्ध हैं, यह प्रशासनिक सवाल है। अनुच्छेद 350A संवैधानिक दिशा देता है; असल सुविधा के बारे में फैसला स्कूलों का रिकॉर्ड देखकर होगा। यदि किसी ज़िले में सुविधा नहीं मिली, तो वहाँ की शिकायत का दस्तावेज़ भी ज़रूरी है। संविधान की अच्छी भाषा अपने आप बच्चे तक किताब नहीं पहुँचाती। अधिकार की बात का मतलब तभी पूरा होता है जब हम देख सकें कि वह पढ़ाई में किस तरह पहुँचा। इसकी जानकारी के लिए जिले के शिक्षा विभाग का बच्चों और शिक्षकों से जुड़ा रिकॉर्ड देखें।

अनुच्छेद 350B भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी की व्यवस्था करता है। राष्ट्रपति इस अधिकारी की नियुक्ति करता है। उसका काम संविधान में भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए रखे गए संरक्षणों से संबंधित मामलों की जाँच करना और राष्ट्रपति को रिपोर्ट देना है। उन रिपोर्टों को संसद के दोनों सदनों के सामने रखा जाता है तथा संबंधित राज्यों की सरकारों को भेजा जाता है। इसे हर शिकायत पर तुरंत आदेश देने वाली अदालत समझना गलत होगा।

यदि उर्दूभाषी समुदाय किसी राज्य में सुविधा की कमी की बात करता है, तो ऐसे रिकॉर्डों से जानकारी मिल सकती है। लेकिन रिपोर्ट की तारीख और उसमें दर्ज क्षेत्र देखना होगा। किसी पुराने निरीक्षण की टिप्पणी को आज की पूरी तस्वीर बनाकर नहीं लिखेंगे। इसी तरह एक राज्य के नतीजे को दूसरे राज्य पर लागू करना भी सही नहीं। भारत में शिक्षा और प्रशासन की व्यवस्थाएँ स्थान के अनुसार बदलती हैं; इसलिए ज़बान का सवाल भी काफ़ी हद तक स्थानीय रिकॉर्ड माँगता है।

संविधान ने अनुच्छेद 29 में नागरिक समूह की भाषा, लिपि और संस्कृति का संरक्षण रखा और बाद में 350A तथा 350B के जरिए भाषायी अल्पसंख्यकों की प्राथमिक शिक्षा और निगरानी से जुड़े रास्ते जोड़े। इन प्रावधानों का मक़सद और शब्द समान नहीं हैं। पहला सांस्कृतिक अधिकार है; दूसरा प्राथमिक शिक्षा के प्रयास से संबंधित है; तीसरा विशेष अधिकारी तथा रिपोर्ट की व्यवस्था है। किसी एक को दूसरे का पूरा विकल्प मानना ठीक नहीं।

इस फ़र्क़ से पाठक को अपनी शिकायत भी साफ़ रखने में मदद मिलती है। यदि मामला विद्यालय में मातृभाषा की सुविधा का है तो उसके सबूत जुटाने होंगे। यदि संस्था अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने की बात कर रही है तो उसका कानूनी सवाल अलग हो सकता है। और यदि किसी राज्य की नीति पर व्यापक शिकायत है, तो संबंधित रिपोर्ट तथा आदेश देखने होंगे। किताब में आगे जहाँ उर्दू का नाम आएगा, वहाँ उसके साथ उस विशेष सवाल का भी नाम लिखा जाएगा। बिना यह बताए कि किस अधिकार पर बात हो रही है, बहस अधूरी रहेगी। रिपोर्ट पढ़ते समय संबंधित शिकायत के साथ प्रशासन का जवाब भी देखें।

उर्दू और तालीम को साथ रखकर पढ़ने में एक बात हमें बार-बार रोकती है: सरकारी कागज़ पर जो व्यवस्था है, ज़रूरी नहीं कि वह बच्चे के रोज़ के अनुभव में भी हो। किसी राज्य ने उर्दू पढ़ाने के पद स्वीकृत किए हों, मगर उनमें कितने शिक्षक नियुक्त हैं? पुस्तकें समय पर पहुँचीं या नहीं? विद्यालय कहाँ हैं और बच्चे वहाँ पहुँच सकते हैं या नहीं? इन सवालों का उत्तर संविधान के शब्द नहीं, शिक्षा विभाग का ताज़ा रिकॉर्ड देगा। जहाँ वह रिकॉर्ड न हो, वहाँ हम कमज़ोरी को मानेंगे, संख्या नहीं गढ़ेंगे।

दूसरी तरफ़, किसी विद्यालय की कमी देखकर पूरे प्रदेश में अधिकार न होने का दावा भी नहीं करेंगे। नीति, उसका बजट और उसका अमल अलग-अलग स्तर हैं। यदि राज्य के किसी हिस्से में सुविधा अच्छी है और दूसरे में कम, तो उसी अंतर को लिखना चाहिए। मुस्लिम समाज भी अलग भूगोल में बसा है। शहर, कस्बा और गाँव के बच्चों की स्थितियाँ अलग हो सकती हैं। किसी एक जगह से सारे भारत का निष्कर्ष निकालना ऐसे विषय में और भी मुश्किल है।

तालीम में ज़बान का सवाल आगे रोज़गार और उच्च शिक्षा से भी जुड़ता है। बच्चा किस भाषा में शुरुआती पढ़ाई करता है और आगे किस भाषा में परीक्षा देता है, इस बदलाव का असर हो सकता है। मगर किसी नीति के कारण नतीजा कितना बदला, यह जाँच के बिना निश्चित नहीं कहा जा सकता। हम यहाँ संवैधानिक ढाँचा समझ रहे हैं; शिक्षा के असल परिणामों के लिए अलग आँकड़ों की ज़रूरत होगी।

उर्दू का सवाल केवल एक प्रतीक का सवाल नहीं है। किताब, अध्यापक, पाठ्यक्रम, परीक्षा और दफ़्तर में उसके इस्तेमाल की वास्तविक स्थिति भी महत्त्व रखती है। साथ ही उन मुसलमानों की भाषा भी याद रखेंगे जो उर्दू में नहीं पढ़ते। किसी बच्चे का हक़ उसकी असल मातृभाषा और स्कूल की परिस्थिति से जुड़ता है, हमारे बनाए हुए एक नाम से नहीं। ज़बान का सवाल जितना भावनात्मक है, उतना ही अमली भी है; दोनों पक्षों को दस्तावेज़ के साथ समझना पड़ेगा। किसी नीति के ऐलान से असर तक की दूरी नापना ही यहाँ असल काम है।

अनुच्छेद 29 को अनुच्छेद 30 का दूसरा नाम नहीं समझना चाहिए। अनुच्छेद 29(1) अलग भाषा, लिपि या संस्कृति वाले नागरिकों के किसी वर्ग को संरक्षण देता है। अनुच्छेद 30 धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी पसंद की शिक्षण संस्थाएँ खोलने और चलाने का अधिकार देता है। एक में संस्कृति सुरक्षित रखने का अधिकार सामने है; दूसरे में संस्था बनाने और चलाने की आज़ादी। कई परिस्थितियों में दोनों का रिश्ता हो सकता है, लेकिन किसी मामले में कौन-सा अधिकार लागू होगा, यह तथ्य और संस्था की हैसियत देखकर तय होगा।

उर्दूभाषी समूह अपनी ज़बान की पढ़ाई चाहता है तो वह सिर्फ़ एक ही रास्ते से सवाल नहीं उठाता। सरकारी विद्यालय में सुविधा की मांग, किसी संस्था की स्थापना और भाषा के सांस्कृतिक संरक्षण का दावा, तीनों अलग रास्ते हैं। इनके सामने अलग विभाग, अलग नियम और अलग दस्तावेज़ हो सकते हैं। यदि कोई सरकार इनमें से एक क्षेत्र में कदम उठाए तो उसे तीनों का पूरा समाधान लिख देना गलत होगा।

यही बात मुसलमान पहचान और भाषायी पहचान के रिश्ते पर लागू होती है। धार्मिक अल्पसंख्यक होने का कानूनी सवाल और किसी राज्य में भाषायी अल्पसंख्यक होने का सवाल अलग हैं। उर्दूभाषी समुदाय में दूसरे मज़हबों के लोग भी हो सकते हैं; मुसलमान परिवार दूसरी भाषा के भाषायी अल्पसंख्यक भी हो सकते हैं। इसलिए किसी संस्था या व्यक्ति के बारे में कानूनी नतीजा सिर्फ़ नाम सुनकर नहीं निकालेंगे। संबंधित राज्य, भाषा, संस्था और लागू नियम देखेंगे।

अगले अध्याय में अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के अधिकार को विस्तार से पढ़ना है। वहाँ यह अहम सवाल आएगा कि “स्थापित” और “संचालित” के शब्दों का क्या मतलब है। कोई संस्था सहायता लेती है तो कौन-से नियम उसके लिए लागू होंगे? संस्था की पहचान पर मतभेद हो तो निर्णय कौन करेगा? इन सवालों के उत्तर अदालत के मूल फैसलों और बाद के कानून से जुड़ेंगे। इतना समझें कि संस्कृति के संरक्षण और संस्था के प्रबंध को आपस में जोड़ सकते हैं, पर उन्हें एक ही धारा नहीं बना सकते। इन्हीं सवालों पर आगे अदालतों के संबंधित मूल फैसलों और सरकारी कानूनों की रोशनी में बात करेंगे।

अंत में उर्दू के बारे में आसान ऐलान करना अच्छा लग सकता है, मगर उससे बात सही नहीं होगी। संविधान में उर्दू आठवीं अनुसूची की भाषा है। अनुच्छेद 29 भाषा, लिपि और संस्कृति वाले नागरिक वर्ग के संरक्षण की बात करता है। अनुच्छेद 350 शिकायत के लिए आवेदन की भाषा से जुड़ता है। बाद में जोड़े गए 350A और 350B प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा की सुविधा और भाषायी अल्पसंख्यकों के विशेष अधिकारी की व्यवस्था रखते हैं। इन प्रावधानों को पढ़ने पर अधिकारों का नक्शा सामने आता है; किसी ज़िले में उनका अमल कैसा है, यह अलग जाँच का विषय है।

मुसलमानों के लिए इन बातों का असर एक जैसा नहीं होगा। जहाँ घर की ज़बान उर्दू है, वहाँ उसकी शिक्षा और सार्वजनिक उपयोग का सवाल सीधा हो सकता है। जहाँ घर में दूसरी भाषा है, वहाँ बच्चे की ज़रूरत उसी से तय होगी। धार्मिक पहचान और भाषा को पूरी तरह एक मान लेने से कई परिवारों की असल स्थिति किताब से बाहर रह जाएगी। हम ऐसा नहीं करेंगे।

किसी सरकार के काम का हिसाब लेते समय भी यही तरीका रखेंगे। उसने भाषा को कोई दर्जा दिया हो तो कानून और राजपत्र देखेंगे। विद्यालय खोले हों तो उनका स्थान और संचालन का रिकॉर्ड देखेंगे। शिक्षक नियुक्त किए हों तो पद और असल नियुक्ति का फ़र्क देखेंगे। बजट दिया हो तो खर्च और लाभार्थियों के उपलब्ध आँकड़े जाँचेंगे। बिना इन पड़ावों के “सब हो गया” या “कुछ नहीं हुआ” लिखना पाठक के साथ इंसाफ़ नहीं होगा।

अब अगला अध्याय अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं पर है। वहाँ धर्म और भाषा दोनों आधारों पर अनुच्छेद 30 के अधिकार का सवाल उठेगा। इस अधिकार का इतिहास, उसके शब्द, बाद के कानून और अदालत की व्याख्या अलग-अलग समय की बातें हैं। उन्हें जोड़ेंगे, लेकिन उनकी तारीखें नहीं मिटाएँगे। तभी पाठक समझ पाएगा कि संविधान ने शुरुआत में क्या दिया और बाद में सरकारों तथा अदालतों के निर्णयों से उसकी मौजूदा स्थिति किस तरह बनी। किसी राज्य की एक ताज़ा रिपोर्ट भी पूरी कहानी नहीं कह सकती; उसके आँकड़ों को उसी दायरे और उसी तारीख में पढ़ना होगा।

अध्याय 7 – अल्पसंख्यक तालीमी संस्थाएँ

अब उस संवैधानिक अधिकार के सामने आते हैं जिसका मुसलमानों की संस्थाओं की चर्चा में सबसे ज़्यादा ज़िक्र होता है। अनुच्छेद 30(1) कहता है कि धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यकों को अपनी पसंद की शिक्षण संस्थाएँ खोलने और चलाने का अधिकार होगा। यहाँ दो काम हैं—स्थापित करना और संचालित करना। सिर्फ़ संस्था के नाम में किसी समुदाय का ज़िक्र होने से दोनों सवालों का जवाब नहीं मिल जाता। उसकी स्थापना का इतिहास, उसके प्रबंध का दस्तावेज़ और लागू कानून देखना पड़ता है।

मुसलमान भारत में धार्मिक अल्पसंख्यक हैं; इसलिए अनुच्छेद 30 के अधिकार की चर्चा में उनका सीधा स्थान है। मगर यह अनुच्छेद सिर्फ़ उनके लिए नहीं लिखा गया। भाषायी अल्पसंख्यक समूह भी इसके दायरे में आते हैं। संस्था का दर्जा तय करते समय उसका क्षेत्र और तथ्य मायने रखते हैं। हम हर मदरसे, स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालय को एक ही वाक्य में अल्पसंख्यक संस्था घोषित नहीं करेंगे। कानून में आम अधिकार और किसी संस्था का उससे संबंध, दो अलग बातें हैं।

इस अधिकार का मतलब यह भी नहीं कि संस्था के पास कोई नियम न हो। पढ़ाई का स्तर, छात्रों की सुरक्षा, मान्यता और दूसरे वैध प्रशासनिक विषयों पर नियम बन सकते हैं। मगर राज्य के नियमों का दायरा इतना बढ़े कि संस्था के अपने प्रबंध का संवैधानिक अधिकार खाली शब्द रह जाए, तो विवाद उठता है। ऐसे मामलों में अदालत के मूल फैसले पढ़ना ज़रूरी होगा। न हर नियम अपने आप गलत है, न हर सरकारी हस्तक्षेप बिना सवाल के सही।

अध्याय में हम शुरुआत संविधान के मूल पाठ से करेंगे। फिर संस्था की स्थापना और संचालन का मतलब, सहायता तथा प्रवेश के सवाल, और बाद में बने आयोग के कानून को देखेंगे। अदालतों ने जिन मामलों में अनुच्छेद 30 की व्याख्या की, उन्हें उनकी तारीख और तथ्यों के साथ पढ़ेंगे। अल्पसंख्यक संस्थाओं पर बहस अक्सर बहुत जल्दी किसी एक विश्वविद्यालय पर आकर रुक जाती है; हम उससे पहले वह कानूनी बुनियाद समझेंगे जिससे हर खास विवाद को उसकी जगह पर रखा जा सके। अधिकार की चर्चा संस्था के अपने असल कानूनी दस्तावेज़ से हमेशा जोड़ेंगे।

“स्थापित करना” सुनने में सरल है, मगर पुरानी संस्थाओं के मामले में इसका जवाब कागज़ों और इतिहास से निकलता है। किसने संस्था शुरू की, किस मक़सद से की, उसका आरंभिक प्रबंध किसके हाथ में था और बाद में कानून से उसके रूप में क्या बदलाव आए? इन सवालों को अलग-अलग देखना होगा। संस्था आज जिस नाम से चलती है, वह नाम अकेला उसकी स्थापना का पूरा इतिहास नहीं बताता। किसी पुराने कॉलेज का विश्वविद्यालय में बदलना भी अपने आप हर विवाद का अंतिम उत्तर नहीं है।

“संचालित करना” संस्था के रोज़ के फैसलों से जुड़ा है। प्रबंध समिति कैसे बने, अध्यापक किस प्रक्रिया से आएँ, पढ़ाई का स्तर क्या हो और छात्रों के प्रवेश के नियम कैसे चलें—इनमें संस्था तथा नियामक की भूमिकाओं का सवाल उठ सकता है। अनुच्छेद 30 में अधिकार है, पर शिक्षा के आम मानक भी कानून में आते हैं। सीमा कहाँ है, इस पर अदालतों ने अलग परिस्थितियों में बात की है। किसी एक फैसले की छोटी पंक्ति सभी प्रकार की संस्थाओं पर लगा देना उचित नहीं होगा।

मदरसों के बारे में भी ऐसी ही सावधानी चाहिए। कोई संस्था धार्मिक तालीम देती है, कोई आम विषय भी पढ़ाती है, और उनकी मान्यता तथा वित्त की स्थितियाँ बदल सकती हैं। सबको एक कानूनी श्रेणी में रखकर एक ही नियम सुनाना सही नहीं। जिस मदरसे या स्कूल के बारे में लिखें, उसका पंजीकरण, मान्यता, सहायता और प्रबंध का रिकॉर्ड देखेंगे। सिर्फ़ बोर्ड पर लिखा नाम काफ़ी नहीं होगा।

संस्था के अधिकार को परिवार के अधिकार से अलग भी समझें। समुदाय अपनी पसंद की संस्था स्थापित कर सकता है, मगर इससे अपने आप यह साबित नहीं होता कि आसपास के सभी बच्चों को वहाँ जगह मिलेगी या पढ़ाई का स्तर एक जैसा होगा। सरकारी सहायता मिलने पर शर्तें और जिम्मेदारियाँ भी सवाल में आती हैं। इस किताब में संवैधानिक अधिकार के साथ उसका असल तालीमी असर देखने की कोशिश होगी। कितने बच्चे संस्थाओं तक पहुँचे और उन्हें कैसी शिक्षा मिली, यह संबंधित आँकड़ों से समझना होगा; केवल संस्थाओं की संख्या से सफलता तय नहीं होती। यह फ़र्क़ हर विवाद में काम आएगा।

अल्पसंख्यक कौन है, इसका जवाब देते समय संबंधित अधिकार का दायरा समझना ज़रूरी है। अनुच्छेद 30 के संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट ने टी. एम. ए. पाई फ़ाउंडेशन बनाम कर्नाटक राज्य मामले में स्पष्ट किया कि धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक की पहचान के लिए संबंधित राज्य को आधार माना जाएगा, पूरे देश की आबादी को नहीं। इसलिए कोई समुदाय राष्ट्रीय स्तर पर कम संख्या में हो, इतना कहना किसी राज्य में उसकी स्थिति तय करने के लिए पर्याप्त नहीं है। साथ ही किसी समुदाय का अल्पसंख्यक होना और किसी विशेष शिक्षण संस्था को अल्पसंख्यक संस्था का दर्जा मिलना अलग सवाल हैं। संस्था के दर्जे के लिए उसकी स्थापना का इतिहास, उद्देश्य और लागू कानूनी कसौटियाँ भी देखनी होंगी।

कई लोग किसी संस्थान को सिर्फ़ इसलिए अल्पसंख्यक संस्था मान लेते हैं कि उसके संस्थापक मुसलमान थे। स्थापना का तथ्य ज़रूर अहम है, मगर उसके बाद बने कानून, संस्था के स्वरूप और प्रबंध की स्थिति भी पढ़नी होगी। दूसरी तरफ़, सरकारी मान्यता या सहायता मिलते ही उसके अल्पसंख्यक अधिकार अपने आप मिट गए, यह कहना भी गलत होगा। हर विषय की संवैधानिक तथा वैधानिक शर्तें हैं। इसी वजह से संस्था का दर्जा समझने के लिए उसके पुराने और नए कागज़ एक साथ देखने होंगे।

संविधान में “धर्म” और “भाषा” दोनों आधार लिखे हैं। कोई संस्था धार्मिक अल्पसंख्यक की हैसियत से अपना अधिकार रख सकती है; कोई भाषायी आधार से दावा करती है। उर्दू नाम होना और संस्था के धार्मिक आधार का सबूत होना एक ही बात नहीं। यदि दोनों आधारों का सवाल उठता है, तो उसे भी अलग-अलग समझाएँगे। पाठक को यह साफ़ पता होना चाहिए कि संस्था किस संवैधानिक शब्द पर अपना दावा रख रही है।

इस विषय पर सरकारों ने कानून और आयोग की व्यवस्था भी बनाई। लेकिन आयोग की स्थापना के बाद का कानून और 1950 के संविधान का मूल अधिकार, अलग तारीखों की बातें हैं। हम पीछे जाकर यह नहीं लिखेंगे कि 1950 में ही आज का यह आयोग मौजूद था। कानून में जिस संस्था को निर्णय या अपील का अधिकार दिया गया है, उसी के असल क्षेत्र को पढ़ेंगे। किसी आवेदन की स्वीकृति को अंतिम अधिकार का सबूत और किसी लंबित आवेदन को संस्था की गैरकानूनी स्थिति बताना, दोनों जल्दबाज़ी होंगी। पूरी संबंधित फाइल और लागू प्रक्रिया समझने के बाद ही बात आगे बढ़ेगी।

अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था के संचालन में सबसे मुश्किल सवाल अक्सर नियमों की सीमा का होता है। कोई राज्य कहता है कि विद्यार्थियों की सुरक्षा, शिक्षक की योग्यता या परीक्षा के मानक के लिए नियम चाहिए। संस्था कहती है कि उसके अपने प्रबंध का अधिकार संविधान ने सुरक्षित रखा है। दोनों पक्षों की बात को नारे में बदल देना आसान है, मगर फैसला नियम के शब्द और उसके असर पर होगा। क्या नियम पढ़ाई का स्तर सुधारता है या संस्था के निर्णय की जगह ही ले लेता है? अदालतों ने ऐसे सवाल अलग-अलग मामलों में देखे हैं।

सरकारी सहायता लेने और बिना सहायता चलने वाली संस्था की स्थिति भी एक जैसी नहीं होती। सहायता के साथ हिसाब, नियुक्ति और सार्वजनिक धन के उपयोग की शर्तें आ सकती हैं। लेकिन राज्य सिर्फ यह कहकर अल्पसंख्यक संस्था को सहायता से वंचित नहीं कर सकता कि उसका प्रबंध किसी धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यक के पास है। अनुच्छेद 30(2) इसी आधार पर भेदभाव रोकता है। इससे हर संस्था को अपने आप अनुदान मिलने का वादा नहीं निकलता; सहायता की आम शर्तें और उपलब्ध नीति भी देखनी होंगी।

यदि कोई संस्था दावा करे कि किसी नए नियम ने उसका संचालन मुश्किल कर दिया, तो हम पहले उस नियम का पाठ लेंगे। फिर देखेंगे कि वह सभी संस्थाओं पर एक समान लागू है या सिर्फ कुछ पर। समान शब्दों वाले नियम का व्यवहार में असर भी अलग हो सकता है। यदि अदालत में चुनौती है तो आदेश की स्थिति जानेंगे। इस तरह किसी असल विवाद को अनुच्छेद 30 के अधिकार और राज्य की नियामक शक्ति, दोनों के संदर्भ में पढ़ा जा सकेगा।

मुस्लिम समाज के लिए अपनी संस्थाएँ बहुत अहम हैं। लेकिन सिर्फ संख्या बढ़ना ही तालीम की पूरी तस्वीर नहीं बताता। शिक्षक, किताबें, परीक्षा में सफलता और आगे की पढ़ाई तक पहुँच भी देखनी होगी। किसी संस्था को संवैधानिक अधिकार मिला है, यह एक बात है; उस अधिकार के सहारे बच्चों को कैसी शिक्षा मिली, यह दूसरी। किताब में जब भी इन दोनों का ज़िक्र आएगा, कानूनी दावे को शैक्षिक परिणाम का तैयार सबूत नहीं मानेंगे।

अनुच्छेद 30(2) के शब्द खास ध्यान माँगते हैं। राज्य जब शिक्षण संस्थाओं को सहायता देता है तो वह किसी संस्था के साथ सिर्फ़ इस वजह से भेदभाव नहीं कर सकता कि उसका प्रबंध धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यक के हाथ में है। इस सुरक्षा को समझने के लिए पहले सहायता की व्यवस्था देखनी होगी। कौन-सी संस्था पात्र है, किस मद में धन दिया जाता है और किन समान शर्तों का पालन चाहिए? अल्पसंख्यक संस्था का दावा उन नियमों के साथ समझा जाएगा, उनसे अलग हवा में नहीं।

अनुदान और अधिकार को मिला देने से दो तरह की गलतियाँ होती हैं। एक व्यक्ति कहता है कि अनुच्छेद 30 होने पर सरकार को हर संस्था का पूरा खर्च उठाना पड़ेगा। दूसरा कहता है कि सरकारी सहायता लेते ही संस्था अपना अल्पसंख्यक अधिकार छोड़ देती है। दोनों आम कथन संविधान के पाठ से सीधे नहीं निकलते। मदद की शर्तें और संस्था की स्वायत्तता के बीच विवाद हो तो संबंधित कानून तथा अदालत की व्याख्या पढ़नी होगी।

कई संस्थाएँ अपने संसाधनों से चलती हैं और कई सहायता लेती हैं। दोनों में छात्रों की फीस, शिक्षक नियुक्ति और निगरानी के सवाल उठ सकते हैं। इस विषय पर किसी फैसले का हवाला देते हुए यह बताना होगा कि मामला किस प्रकार की संस्था से संबंधित था। निजी बिना सहायता वाले कॉलेज पर कही गई बात को सरकारी सहायता पाने वाले विद्यालय के ऊपर बिना जाँच लगाएंगे तो मतलब बदल जाएगा। पाठक को इसी बारीकी की ज़रूरत है।

किसी मुसलमान संस्थान के बारे में सरकारी धन के दावे अक्सर राजनीतिक बहस में आते हैं। ऐसी बात लिखने से पहले अनुदान का आदेश, वर्ष, राशि और संस्था की पहचान देखना ज़रूरी होगा। बजट में राशि का प्रावधान और संस्था के खाते में रकम पहुँच जाना अलग घटनाएँ हैं। यदि सहायता का दावा बिना सबूत हो, तो उसे पुस्तक में तथ्य बनाकर नहीं डालेंगे। हमारी दिलचस्पी यह जानने में है कि संविधान ने कौन-सी बराबरी की शर्त रखी और सरकारों ने उसे अपने सहायता नियमों में कैसे लागू किया। सहायता के फैसले में यह फ़र्क़ पक्षों के लिए ज़रूरी है।

किसी शिक्षण संस्था में प्रवेश का सवाल आते ही अनुच्छेद 29(2) और अनुच्छेद 30 की चर्चा साथ खड़ी हो सकती है। अनुच्छेद 29(2) राज्य से चलने वाली या सहायता पाने वाली संस्था में नागरिक को सिर्फ़ धर्म, नस्ल, जाति या भाषा के आधार पर प्रवेश से वंचित करने से रोकता है। अनुच्छेद 30 अल्पसंख्यक को अपनी संस्था खोलने और चलाने का अधिकार देता है। असल मामले में दोनों के बीच संबंध कैसे समझा जाए, इस पर अदालतों के फैसले अहम हैं। किताब किसी एक वाक्य से सभी प्रवेश नियम तय नहीं करेगी।

संस्था सहायता लेती है या नहीं, किस स्तर की पढ़ाई है और प्रवेश नीति का कानूनी आधार क्या है—इन सबका असर हो सकता है। अल्पसंख्यक संस्था अपने समुदाय के बच्चों की शिक्षा का मक़सद रखे तो उस मक़सद और अन्य छात्रों के अधिकार पर सवाल उठ सकते हैं। इनके जवाब संस्था की श्रेणी और संबंधित न्यायिक व्याख्या देखकर देने होंगे। सिर्फ़ संस्था के बाहर लगी पट्टी या किसी पुराने पर्चे से मौजूदा प्रवेश अधिकार नहीं जाना जा सकता।

यहीं से एक व्यापक तालीमी सवाल भी उठता है। यदि अल्पसंख्यक संस्था मौजूद है, तो क्या गरीब मुसलमान परिवारों के बच्चे सचमुच वहाँ पहुँच पा रहे हैं? फीस, दूरी और उपलब्ध स्थान का असर हो सकता है। मगर किसी विशेष संस्था के बारे में इसका जवाब उसके प्रवेश तथा छात्रवृत्ति के रिकॉर्ड से आएगा। कानूनी अधिकार से सामाजिक नतीजे का सीधा अनुमान लगाना पाठक को गलत तस्वीर देगा। इसी तरह किसी एक सफल संस्था से पूरे समुदाय की शिक्षा की स्थिति तय नहीं होती।

किसी विद्यालय, कॉलेज या विश्वविद्यालय में दाखिले की बात हो, तो उसी साल की प्रवेश पुस्तिका और लागू नियम देखें। संस्था का दर्जा, मिलने वाली सहायता और सीटों की व्यवस्था अलग बातें हैं। इसलिए किसी दूसरी संस्था का नियम देखकर यहाँ के छात्रों को पक्की सलाह नहीं दी जा सकती।

संविधान के अनुच्छेद 30 के बाद अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के लिए संसद ने एक अलग कानून बनाया। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान आयोग अधिनियम, 2004 को राष्ट्रपति की मंजूरी 6 जनवरी 2005 को मिली और वह अधिनियम संख्या 2, 2005 के रूप में दर्ज हुआ। इस तारीख को समझना ज़रूरी है: कानून के नाम में 2004 है, जबकि राजपत्र में उसकी अधिनियम संख्या 2005 की है। अगर किताब में दोनों को बिना बताए मिला दें, तो पाठक को लगेगा कि दस्तावेज़ में गलती है।

आयोग का काम सिर्फ़ कोई प्रमाणपत्र बाँटना नहीं है। कानून में उसके अधिकार, कार्य और प्रक्रिया लिखे गए हैं। संस्था के अल्पसंख्यक दर्जे पर विवाद और अपने अधिकार से जुड़ी शिकायतों के लिए व्यवस्था बनी है। अधिनियम में बाद में संशोधन भी हुए; इसलिए किसी संस्था की पुरानी फाइल पर आज का संशोधित पाठ पीछे से नहीं लगा सकते। किस तारीख को कौन-सा प्रावधान लागू था, वह देखना होगा। आयोग की अपनी वेबसाइट पर उपलब्ध अधिनियम और संशोधन इस जाँच का शुरुआती रिकॉर्ड देते हैं।

किसी संस्था को आयोग से दर्जा मिला हो तो दस्तावेज़ की तारीख और शर्त पढ़ेंगे। आवेदन लंबित हो तो उसे स्वीकृत नहीं लिखेंगे। और किसी दावे पर मुक़दमा चल रहा हो तो आयोग के आदेश तथा न्यायालय की स्थिति अलग बताएँगे। यह कानूनी सावधानी संस्था के पक्ष या विपक्ष में फैसला पहले से तय नहीं करती; पाठक को असल स्थिति समझने देती है।

मूल अधिनियम कब बना, संशोधन किस समय संसद से गुज़रा, विधेयक में क्या प्रस्ताव था और अंतिम अधिनियम में क्या आया—इन सवालों के उत्तर संसदीय रिकॉर्ड, राजपत्र और अधिनियम के पाठ से मिलते हैं। एक मंत्री की घोषणा, दोनों सदनों की मंजूरी और कानून का लागू होना तीन अलग पड़ाव हैं। इस किताब में आयोग की चर्चा को संविधान के मूल अधिकार का विकल्प नहीं बनाएँगे; वह उस अधिकार से जुड़े विषयों के लिए बाद में बनी कानूनी व्यवस्था है। आयोग की शक्ति किन मामलों तक है, यह भी अधिनियम की संबंधित धारा से ही बताया जाएगा; उसके नाम से मनमाना अधिकार नहीं निकलेगा।

अदालतों के फैसलों ने अनुच्छेद 30 के अधिकारों का दायरा स्पष्ट किया है। टी. एम. ए. पाई फ़ाउंडेशन बनाम कर्नाटक राज्य का फैसला इस सिलसिले में अहम है। इसमें धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यक की पहचान के लिए संबंधित राज्य को आधार मानने का सिद्धांत बताया गया। लेकिन इस सिद्धांत से किसी खास स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक दर्जा अपने आप तय नहीं हो जाता। उसके लिए संस्था की स्थापना, उसके उद्देश्य और संबंधित न्यायिक कसौटियों की जाँच भी ज़रूरी है। इसलिए समुदाय की पहचान और संस्था के कानूनी दर्जे को अलग समझना चाहिए।

अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी का मामला इस सावधानी की मिसाल है। नवंबर 2024 में सुप्रीम कोर्ट की सात न्यायाधीशों वाली पीठ ने अनुच्छेद 30 के तहत अल्पसंख्यक शिक्षण संस्था की पहचान के लिए कानूनी सिद्धांतों पर निर्णय दिया। उस निर्णय में एएमयू की अंतिम अल्पसंख्यक हैसियत तय नहीं की गई; उस सवाल का निपटारा बताए गए सिद्धांतों के आधार पर नियमित पीठ को करना था। इसलिए “नवंबर 2024 में एएमयू की हैसियत अंतिम रूप से तय हो गई” लिखना अदालत के फैसले को बढ़ाकर कहना होगा। उस फैसले में तय सिद्धांतों और अंतिम दर्जे का फ़र्क़ समझना ज़रूरी है।

किसी विश्वविद्यालय का इतिहास पढ़ते हुए आरंभिक संस्था, संसद का अधिनियम और समय-समय पर हुआ संशोधन अलग दस्तावेज़ हैं। एक तारीख़ उठाकर पूरे मुक़दमे का मतलब नहीं समझा जा सकता। अदालत ने जो सिद्धांत कहा और किसी संस्था के तथ्यों पर अलग से होने वाले फैसले, उनके बीच भेद रखना ज़रूरी है। यही नियम दूसरे स्कूलों और कॉलेजों के लिए भी लागू होगा। किताब में अदालत के फैसले पर हमारी राय अलग जगह हो सकती है, मगर राय को न्यायालय का आदेश बनाकर पेश नहीं करेंगे। यदि निर्णय में कई न्यायाधीशों ने अलग तर्क दिए हों, तो बहुमत की बाध्यकारी बात और दूसरी राय को साफ़ करेंगे।

हम एक पन्ने की सुर्खी से किसी समुदाय के शैक्षिक अधिकार की मौजूदा स्थिति तय नहीं कर सकते। इसलिए यहाँ हर फैसले की मूल प्रति, तारीख़ और आगे की कार्यवाही हमारी जाँच का आधार होगी। न्यायिक सिद्धांत का असर समझने के लिए बाद के संबंधित फैसलों की तारीख़, पीठ और अंतिम निर्देश साथ पढ़ने चाहिए।

इस अध्याय की शुरुआत में हमने अनुच्छेद 30 का सीधा पाठ पढ़ा था। अब अंत में उसका मतलब फिर अपने शब्दों में रखें। धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी पसंद की शिक्षण संस्थाएँ खोलने और चलाने का संवैधानिक अधिकार है। सरकारी सहायता देते समय सिर्फ़ उनके अल्पसंख्यक प्रबंध के आधार पर भेदभाव नहीं किया जा सकता। लेकिन हर संस्था की पहचान, सहायता की पात्रता, प्रवेश की व्यवस्था और शिक्षा के आम नियम अलग तथ्य तथा कानून माँगते हैं। इन सवाल को एक पंक्ति में निपटाना उसके अधिकार के साथ भी न्याय नहीं होगा।

मुस्लिम समाज के भीतर संस्थाओं की अलग दुनिया है। कुछ छोटे स्कूल हैं, कुछ पुराने कॉलेज, कुछ मदरसे और कुछ बड़े विश्वविद्यालय। उनकी कानूनी स्थापना, वित्त और पढ़ाई के स्तर एक जैसे नहीं। इसलिए पुस्तक में जब किसी संस्था का नाम आएगा, उसकी अपनी फाइल से बात शुरू होगी। किसी एक मिसाल को सारे मुस्लिम शिक्षण संस्थानों का चेहरा बनाकर नहीं रखेंगे।

अधिकार की मौजूदगी के साथ बच्चों की असल तालीम का सवाल भी खुला है। संस्था बन गई तो वहाँ कितने बच्चे पढ़ते हैं, लड़कियों तक पहुँच कैसी है, शिक्षक उपलब्ध हैं या नहीं और आगे की पढ़ाई का रास्ता क्या है? ये सवाल संस्था के वार्षिक रिकॉर्ड तथा भरोसेमंद आँकड़ों से देखे जाएँगे। संविधान का अधिकार अहम है, मगर उससे अपने आप शिक्षा का पूरा नतीजा साबित नहीं होता।

भाग दो यहीं पूरा होता है। हमने बराबरी, सरकारी रोज़गार, मज़हब की आज़ादी, भाषा और अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के अधिकारों को उनकी अलग कानूनी जगह पर पढ़ा। अब भाग तीन में ऐसे कानूनों की तरफ़ जाएँगे जिनका मुस्लिम समाज से ज़्यादा सीधा संबंध है। वहाँ हर बदलाव के साथ मूल अधिनियम, संशोधन, संसद का रास्ता और अदालत की स्थिति दर्ज करेंगे। यही तरीका हमें यह बताने में मदद करेगा कि संविधान का व्यापक अधिकार और किसी विशेष कानून का असल प्रभाव कहाँ मिलते हैं और कहाँ अलग रहते हैं। इसी बुनियाद पर आगे के हिस्से में समय के साथ हुए बदलावों की असल कहानी लिखी जा सकेगी। हर बदलाव का भरोसेमंद मूल लिखित सबूत पूछा जाएगा।

भाग तीन – कानून और उनकी बदलती शक्ल

अध्याय 8 – मुस्लिम पर्सनल लॉ की कानूनी बुनियाद

पिछले हिस्से में हमने संविधान के उन अधिकारों को समझा जिनसे नागरिक की बराबरी, मज़हब की आज़ादी और अपनी तालीमी संस्थाओं का रिश्ता जुड़ता है। अब सवाल घर के भीतर पहुँचता है। निकाह कैसे होगा, पति और पत्नी की ज़िम्मेदारियाँ क्या होंगी, रिश्ता टूटने पर औरत का गुज़ारा कैसे चलेगा और किसी की मौत के बाद उसकी जायदाद किस तरह बँटेगी? मुसलमानों के लिए इन सवालों में पर्सनल लॉ की अहम जगह है। मगर उसके नाम से यह समझ लेना कि मुस्लिम नागरिक पर देश के बाकी कानून लागू नहीं होते, शुरुआत में ही गलत रास्ते पर ले जाएगा।

पर्सनल लॉ का मतलब उन निजी और पारिवारिक विषयों की कानूनी व्यवस्था है जिनमें मज़हबी परंपरा को मान्यता मिली है। भारत में यह व्यवस्था सिर्फ़ मुसलमानों तक सीमित नहीं रही। अलग समुदायों के विवाह, तलाक़ और विरासत से जुड़े कानून अपनी अलग तारीख़ रखते हैं। साथ ही ऐसे नागरिक कानून भी हैं जिनके तहत मज़हबी विवाह व्यवस्था से अलग विवाह किया जा सकता है। इस किताब का विषय मुस्लिम समाज है, इसलिए हमारा ध्यान उसके अनुभव पर रहेगा; लेकिन देश की पूरी कानूनी तस्वीर को हटाकर उसका अनुभव नहीं समझा जा सकता।

यहाँ तीन बातें अलग रखनी होंगी। इस्लामी उसूलों का मज़हबी अध्ययन एक चीज़ है, भारतीय अदालत में लागू मुस्लिम कानून दूसरा और किसी इलाके में चली आ रही घरेलू रस्म तीसरी। कभी रस्म को शरीअत कहा जाता है, कभी अदालत के फैसले को मज़हबी फ़तवा समझ लिया जाता है। दोनों गलतफहमियाँ परिवारों को नुकसान पहुँचा सकती हैं। किसी आलिम की राय का अपना मज़हबी महत्व हो सकता है, मगर अदालत का आदेश कानूनी प्रक्रिया से आता है; उसे मानना ज़रूरी होता है।

इस अध्याय में हम किसी मसलक का फ़तवा लिखने नहीं बैठे हैं। हम यह समझना चाहते हैं कि भारतीय कानून ने मुस्लिम परिवार के किन मामलों में पर्सनल लॉ को जगह दी, किन विषयों पर संसद ने अधिनियम बनाया और अदालतों ने उनकी व्याख्या कैसे की। तभी आगे शाह बानो, तीन तलाक़ और औरतों के अधिकारों की चर्चा बुनियाद पर खड़ी होगी। इसी बुनियाद पर आगे बढ़ेंगे।

मुस्लिम पर्सनल लॉ की कानूनी कहानी में 1937 का शरीअत अनुप्रयोग अधिनियम एक अहम पड़ाव है। यह कानून आज़ादी से पहले बना था। इसलिए इसे 1950 के संविधान ने पहली बार बनाया, ऐसा कहना तारीख को बदल देना होगा। उसका काम कुछ तय विषयों में मुसलमानों के बीच निर्णय के लिए मुस्लिम पर्सनल लॉ को आधार देना था, भले उसके खिलाफ कोई स्थानीय रिवाज चला आ रहा हो। इस तरह परिवार की रस्म और अदालत में लागू नियम के बीच फ़र्क़ सामने आया।

अधिनियम की धारा 2 में बिना वसीयत वाली विरासत, महिलाओं की विशेष संपत्ति, विवाह, विवाह विच्छेद, भरण-पोषण, मेहर, संरक्षकता, उपहार और कुछ न्यास तथा वक्फ़ संबंधी विषय आते हैं। मगर यह पूरी इस्लामी विधि को हर विषय पर लागू करने वाला विस्तृत विधान नहीं है। उसकी अपनी सूची और अपवाद हैं। मूल केंद्रीय पाठ में कृषि भूमि का अपवाद भी मिलता है। किसी राज्य में ज़मीन का विवाद समझते समय उसके भूमि कानून और लागू संशोधन देखना इसलिए ज़रूरी हो जाता है।

घर की बातचीत में हम अक्सर कह देते हैं कि मुसलमान की हर जायदाद शरीअत के हिसाब से बँटेगी। ऐसी आम बात असल मुक़दमे की सारी ज़रूरत पूरी नहीं करती। ज़मीन कृषि की है या दूसरी, व्यक्ति ने वसीयत की है या नहीं, संपत्ति उसकी अपनी थी या किसी और की, और क्षेत्र में कौन सा कानून लागू है—ये सवाल फैसला बदल सकते हैं। किसी एक धारा को पढ़कर पूरे देश की हर ज़मीन के लिए एक ही नतीजा निकालना उचित नहीं।

इस कानून को समझने का दूसरा लाभ औरतों की संपत्ति के सवाल में मिलता है। किसी घर में बेटियों को हिस्सा न देने की पुरानी आदत चल रही हो तो सिर्फ़ पुरानी आदत होने से वह कानूनी हक़ नहीं बन जाती। पहले विरासत की लागू व्यवस्था देखनी होगी। वहीं से पता चलेगा कि रिवाज किस जगह हक़ के खिलाफ़ खड़ा है। परिवार की इज़ज़त का मतलब बेटी को उसका अधिकार लेने से रोकना नहीं हो सकता। इंसान की बात घर की चौखट पर भी उतनी ही ज़रूरी है। दावे की जाँच ज़रूरी रहेगी।

1937 के अधिनियम का आकार छोटा है, लेकिन उसके नाम पर बड़ी बातें कही जाती हैं। इसे पढ़ते हुए हमें इसकी सीमित बनावट समझनी चाहिए। यह निकाह से लेकर विरासत तक हर सवाल का पूरा जवाब धाराओं में नहीं लिखता। तय विषयों में वह मुस्लिम पर्सनल लॉ को निर्णय का नियम बनाता है। उस नियम को किसी खास विवाद पर कैसे लागू किया जाएगा, इसके लिए संबंधित विधि, सबूत और अदालतों की व्याख्या भी देखनी पड़ती है।

धारा 3 का महत्व है। उसमें तय शर्तें पूरी करने वाला मुसलमान तय अधिकारी के सामने घोषणा कर सकता है, जिसके बाद धारा 2 का प्रभाव गोद लेने, वसीयत और वसीयती संपत्ति जैसे विषयों तक उस धारा के अनुसार बढ़ता है। इससे यह साफ़ होता है कि अधिनियम की अलग धाराओं को एक जैसी व्यवस्था मान लेना गलत है। घोषणा की शर्त और आम तौर पर लागू विषय अलग हैं। किसी मामले में घोषणा हुई भी है या नहीं, यह दस्तावेज़ से जाना जाएगा।

यहाँ पाठक को एक और फ़र्क़ समझना चाहिए। कानून में किसी धार्मिक व्यवस्था को मान्यता मिलने का मतलब यह नहीं कि उस नाम से कही जाने वाली हर बात सही मान ली जाएगी। कोई व्यक्ति अपने फ़ायदे के लिए घरवालों को कह दे कि कानून यही है, तो उसकी बात जाँचने का हक़ बाकी रहता है। लिखित समझौता, निकाहनामा, संपत्ति का रिकॉर्ड और अदालत का आदेश सामने लाने से चर्चा साफ़ होती है। सिर्फ़ उम्र, रिश्ते या सामाजिक हैसियत से कानूनी दावा साबित नहीं होता।

हमारे समाज में बहुत सी महिलाएँ अपने हिस्से का सवाल इसलिए नहीं उठाती कि घर में रिश्ते बिगड़ जाएँगे। यह डर समझने लायक है, मगर डर के कारण अधिकार की जानकारी ही छिपा दी जाए तो नाइंसाफ़ी लंबी चलती है। पर्सनल लॉ की समझ सिर्फ़ पुरुष की शक्ति समझाने के लिए नहीं होनी चाहिए। उससे पत्नी, बेटी, माँ और बहन की कानूनी जगह भी खुलनी चाहिए। आखिर परिवार तभी मज़बूत होता है जब उसके भीतर कमज़ोर समझे जाने वाले सदस्य की आवाज़ भी सुनी जाए और उसके हक़ का हिसाब ईमानदारी से किया जाए।

निकाह की चर्चा आते ही हमारे यहाँ रस्म, दस्तावेज़ और मज़हबी शर्तें एक साथ सामने आती हैं। एक परिवार बड़े आयोजन को निकाह की मज़बूती समझता है, दूसरा सादा निकाह पसंद करता है। लेकिन समारोह का खर्च कानूनी जिम्मेदारियों की जगह नहीं ले सकता। किससे विवाह हुआ, सहमति का सवाल क्या था, मेहर क्या तय हुआ और विवाह का सबूत क्या है—ये बातें किसी विवाद के समय बहुत अहम हो सकती हैं।

निकाहनामा इसलिए सिर्फ़ समारोह की यादगार नहीं है। उसमें दर्ज नाम, तारीख, मेहर और सहमत शर्तें परिवार के अधिकारों का लिखित आधार बन सकती हैं। लिखे हुए शब्द दोनों पक्षों को पढ़ाकर समझाना ज़रूरी है। लड़की ने क्या स्वीकार किया, उसे दस्तावेज़ की प्रति मिली या नहीं और उसमें बाद में कोई बदलाव हुआ या नहीं, इन सवालों को छोटी बात मानकर छोड़ना ठीक नहीं। किसी दस्तावेज़ की असलियत और उसके कानूनी असर का अंतिम परीक्षण अदालत में हो सकता है।

मेहर को दहेज का दूसरा नाम समझ लेना भी गलत है। दोनों की कानूनी और सामाजिक जगह अलग है। मेहर पत्नी का हक़ है; उसका रूप, देय रकम और भुगतान संबंधित व्यवस्था तथा सहमति से समझे जाते हैं। सिर्फ़ काग़ज़ पर बड़ी रकम लिख देने से असल भुगतान का सवाल खत्म नहीं होता। इसी तरह कुछ रकम दे देने से पति की हर दूसरी ज़िम्मेदारी खत्म नहीं हो जाती। आगे भरण-पोषण वाले अध्याय में यह फ़र्क़ और साफ़ होगा।

विवाह पंजीकरण का सवाल भी संबंधित राज्य की लागू व्यवस्था से जुड़ सकता है। इसलिए किसी एक इलाके के अनुभव को पूरे भारत का नियम कह देना सही नहीं। विवाह की उम्र, सहमति और बाल संरक्षण से जुड़े आम कानूनों को भी सिर्फ़ पर्सनल लॉ का नाम लेकर किनारे नहीं किया जा सकता। जहाँ अलग कानून मिलते हैं, वहाँ असल कानूनी स्थिति समझनी पड़ती है। हमारी चर्चा का मक़सद पाठक को इतने होश के साथ आगे बढ़ाना है कि वह परिवार की खुशी में दस्तावेज़ और अधिकार भूल न जाए। रिश्ते का सम्मान और कानूनी स्पष्टता साथ चल सकते हैं; इनके बीच दुश्मनी मानने की ज़रूरत नहीं है।

मुस्लिम औरत के लिए विवाह से निकलने की कानूनी राह की चर्चा 1939 के मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम के बिना अधूरी है। इस कानून ने मुस्लिम विधि के अनुसार विवाहित महिलाओं के लिए अदालत से शादी खत्म कराने के आधार साफ़ किए। इसका नाम याद रखना इसलिए ज़रूरी है कि आम बातचीत में तलाक़ का पूरा अधिकार पति के हाथ में बता दिया जाता है।

धारा 2 में कई आधार लिखे हैं। पति का चार वर्ष तक पता न होना, दो वर्ष तक भरण-पोषण की उपेक्षा, सात वर्ष या उससे ज़्यादा कारावास की सजा और बिना उचित कारण तीन वर्ष तक वैवाहिक ज़िम्मेदारियाँ न निभाना उनमें शामिल हैं। क्रूरता तथा अन्य आधार भी दिए गए हैं। मगर इन अवधियों और आधारों के साथ शर्तें तथा विशेष प्रक्रियाएँ जुड़ी हैं। सिर्फ़ सुनी हुई अवधि पूरी होने की बात से विवाह अपने आप खत्म नहीं मान लिया जाएगा।

क्रूरता को सिर्फ़ दिखाई देने वाली चोट तक सीमित समझना भी अधिनियम के पाठ को छोटा करना होगा। उसमें व्यवहार, संपत्ति के अधिकार में बाधा और मज़हबी अमल रोकने जैसे पहलुओं का ज़िक्र मिलता है। किसी पत्नी की तकलीफ़ को यह कहकर खारिज कर देना कि उसे मारा तो नहीं गया, मुनासिब नज़र नहीं। उसके आरोप, उनका सबूत और लागू कानूनी आधार देखे जाएँगे। अदालत दोनों पक्षों को सुनकर निर्णय करेगी; किताब किसी अज्ञात परिवार का फैसला पहले से नहीं कर सकती।

इस अधिनियम में मेहर के अधिकार को प्रभावित न करने का प्रावधान भी है। इससे समझ आता है कि विवाह विच्छेद और वित्तीय अधिकार अलग सवाल हैं। संबंध खत्म होने से महिला के सभी दावे एक साथ मिट नहीं जाते। किस अधिकार का क्या आधार है, उसे अलग पढ़ना होगा। समाज के ज़िम्मेदार लोगों का काम समझौते के नाम पर महिला को चुप कराना नहीं, बल्कि उसका पक्ष सुनना है। जहाँ मेल संभव हो, सम्मान के साथ हो; जहाँ अदालत का रास्ता ज़रूरी हो, उसे बदनामी का रास्ता कहकर बंद न किया जाए। कानून की जानकारी किसी घर को तोड़ने की साजिश नहीं, नाइंसाफ़ी से निकलने का सहारा भी हो सकती है।

किसी बुजुर्ग की मौत के बाद परिवार में सबसे मुश्किल बातचीत अक्सर जायदाद की होती है। दुख अभी कम नहीं हुआ होता और हिस्से का सवाल सामने आ जाता है। ऐसे समय में जो सदस्य घर के कागज़ अपने पास रखता है, वह कभी पूरे परिवार का अकेला मालिक जैसा व्यवहार करने लगता है। लेकिन दस्तावेज़ रखने और संपत्ति का हक़दार होने में फ़र्क़ है। विरासत का सवाल लागू कानून और असल रिश्तों से तय होगा।

मुस्लिम विरासत की चर्चा में बिना वसीयत और वसीयत वाले मामलों को अलग रखना ज़रूरी है। यह भी देखना होगा कि मृतक असल में किस संपत्ति का मालिक था, उसके ऋण और दूसरी देयताएँ क्या थीं तथा कौन से उत्तराधिकारी जीवित थे। सिर्फ़ बेटों और बेटियों की संख्या लिखकर हर मामले की हिस्सेदारी नहीं निकाली जा सकती। माता, पिता, पति या पत्नी और अन्य संबंधों की मौजूदगी से गणना बदल सकती है। इसलिए इस पुस्तक में अधूरी पारिवारिक जानकारी पर प्रतिशत बाँटने का तरीका नहीं अपनाया जाएगा।

महिला का हिस्सा छोटा हो या बड़ा, उसे दबाव से छुड़वा लेना अलग समस्या है। किसी बहन से यह कहलवा देना कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, तभी मतलब रखेगा जब उसकी मर्ज़ी असल और संबंधित प्रक्रिया कानूनसम्मत हो। अनपढ़ सदस्य से बिना समझाए हस्ताक्षर लेना या परिवार की इज़्ज़त का डर दिखाना इंसाफ़ की बुनियाद को चोट पहुँचाता है। अधिकार की जानकारी और मर्ज़ी दोनों पर ध्यान देना पड़ता है।

विरासत का विवाद सिर्फ़ निजी नाराज़गी नहीं रहता। उससे महिलाओं की आर्थिक सुरक्षा, बच्चों की पढ़ाई और बुजुर्ग लोगों के सहारे का संबंध जुड़ता है। इसी वजह से पर्सनल लॉ की चर्चा को सिर्फ़ मज़हबी पहचान की बहस तक सीमित रखना अधूरा है। हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि घर में जो बात कही जाए, वह कागज़ और कानून से भी मेल खाए। परिवार अपने भीतर निष्पक्ष बँटवारा कर सके तो बेहतर है; लेकिन विवाद हो तो सक्षम मंच का दरवाज़ा खुला रहना चाहिए। रिश्तों को बचाने के लिए अधिकार छिपाना लंबे समय में रिश्तों को भी कमज़ोर कर देता है। अधिकारों की स्पष्ट जानकारी और निष्पक्ष बँटवारे से विवाद की संभावना घट सकती है।

मुस्लिम परिवार के हर सदस्य पर अपराध, कर, व्यापार और नागरिक सुरक्षा से जुड़े आम कानून भी लागू होते हैं। पर्सनल लॉ की मान्यता कोई अलग राजनीतिक नागरिकता नहीं बनाती। देश की अदालत, पुलिस और प्रशासन से उसका संबंध दूसरे नागरिकों की तरह रहता है, हालांकि किसी खास कानूनी विषय में लागू व्यवस्था अलग हो सकती है। यह बुनियादी बात साफ़ होगी तो बहुत सी बेबुनियाद बहसों अपने आप छोटी पड़ जाएँगी।

एक ही घरेलू घटना में अलग कानूनों के सवाल उठ सकते हैं। पत्नी का गुज़ारा, बच्चे की देखभाल, संपत्ति की वापसी और हिंसा से सुरक्षा एक दूसरे से जुड़े होते हुए भी एक ही दावा नहीं हैं। घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम, 2005 जैसे आम कानून अपनी परिभाषाओं और शर्तों के अनुसार राहत देते हैं। उनकी मौजूदगी को सिर्फ़ निकाह का मामला बताकर नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। संबंधित मंच यह देखेगा कि किस राहत का आधार बनता है।

इसी तरह किसी दावे पर मज़हबी राय मिल जाने से दूसरे कानूनी अधिकार अपने आप खत्म नहीं होते। दोनों पक्ष अपनी मर्ज़ी से सलाह लें, यह अलग बात है; लेकिन अदालत तक जाने वाले रास्ते को रोकना अलग। घर की मध्यस्थता तब उपयोगी है जब उसमें दबाव न हो और समझौता अधिकारों की जानकारी के साथ किया जाए। किसी कमज़ोर पक्ष को परिवार के सामने अकेला खड़ा करके उसकी चुप्पी को सहमति मानना सही नहीं।

मुस्लिम समाज को कानून की यह जानकारी अपने अंदर फैलानी चाहिए। निकाह पढ़ाने वाले, सामाजिक कार्यकर्ता और शिक्षण संस्थाएँ दस्तावेज़ सँभालने तथा कानूनी सहायता की बुनियादी जानकारी दे सकते हैं। लेकिन सहायता देने वाला व्यक्ति अपनी योग्यता की सीमा भी समझे। हर मुश्किल विवाद पर बिना पढ़े अंतिम जवाब देना नुकसान पहुँचा सकता है। इस किताब से पाठक को सवाल पहचानने की क्षमता मिलनी चाहिए, ताकि वह सही दस्तावेज़ और सही मंच तक पहुँचे। मज़हबी पहचान की रक्षा और नागरिक अधिकारों की समझ साथ मिलकर परिवार को ज़्यादा सुरक्षित बनाती हैं। दोनों को आपस में भिड़ाकर देखने से सबसे ज्यादा नुकसान उसी व्यक्ति को होता है जिसे तत्काल मदद की ज़रूरत है।

पर्सनल लॉ और संविधान का रिश्ता सरल नारे में पूरा नहीं आता। एक ओर मज़हब की आज्ञादी है, दूसरी ओर बराबरी, गरिमा और विधायिका की कानून बनाने की शक्ति। किसी विवाद में कौन सा सवाल सामने है, यह तय किए बिना पूरा पर्सनल लॉ संवैधानिक है या असंवैधानिक, ऐसा आम फैसला लिख देना गंभीर भूल होगी। अलग धाराओं और प्रथाओं पर अदालतों के सामने अलग सवाल आए हैं। उनके जवाब भी उसी दायरे में पढ़ने पड़ेंगे।

अनुच्छेद 44 समान नागरिक संहिता का ज़िक्र नीति निदेशक तत्व के रूप में करता है। नीति निदेशक तत्वों और मौलिक अधिकारों की कानूनी जगह समान नहीं है। अनुच्छेद 37 के अनुसार ये तत्व सीधे अदालत से लागू कराए जाने योग्य नहीं, लेकिन शासन में मूलभूत माने गए हैं। इसलिए अनुच्छेद 44 पढ़कर यह कहना कि सभी पर्सनल लॉ उसी दिन खत्म हो गए, संविधान का गलत मतलब होगा। असल बदलाव के लिए कानूनी व्यवस्था और उसकी संवैधानिक जाँच का सवाल रहता है।

यहाँ विचारों का फ़र्क़ स्वाभाविक है। कुछ लोग समान नियमों को बराबरी की राह मानते हैं; कुछ को चिंता होती है कि विविध परंपराओं और अल्पसंख्यक पहचान पर असर पड़ेगा। किसी पक्ष की राय समझने के लिए उसके असल तर्क पढ़ने चाहिए। लेकिन विचार और लागू कानून अलग रहेंगे। भाषण में कोई सुधार घोषित हो जाए तो वह अपने आप संसद या विधानसभा का अधिनियम नहीं बन जाता। आगे उत्तराखंड की समान नागरिक संहिता का संक्षिप्त परिचय आएगा। वहाँ राज्य की लागू व्यवस्था और देशभर की बहस का फ़र्क़ समझेंगे।

फिलहाल इतना समझना काफी है कि संवैधानिक अधिकारों का इस्तेमाल किसी घरेलू नाइंसाफ़ी को ढकने के लिए नहीं होना चाहिए, और सुधार की भाषा में किसी समुदाय की हर परंपरा को अपराध घोषित करना भी उचित नहीं। हमें लिखित नियम, अधिकार का दायरा और न्यायिक परीक्षण देखना है। बहस तभी उपयोगी होगी जब पति, पत्नी और बच्चों की असल ज़िंदगी उसमें दिखाई दे। सिर्फ़ पहचान के नाम पर बोलने से घर के भीतर का दर्द गायब हो जाता है; सिर्फ़ सुधार का दावा कर देने से उसका हल साबित नहीं होता। इंसाफ़ का सही पैमाना नतीजा और अधिकार दोनों माँगता है।

अदालत की भाषा पढ़ते समय फैसला और पक्षकार की दलील में फ़र्क रखना ज़रूरी है। किसी निर्णय में वकील का तर्क पत्रों में लिखा हो सकता है, फिर अदालत उसे स्वीकार न करे। यदि हम उसी तर्क को अदालत का आदेश बताकर किताब में रख दें तो पाठक को उलटी जानकारी मिलेगी। मुस्लिम पर्सनल लॉ जैसे संवेदनशील विषय में ऐसी गलती सिर्फ़ शब्दों की नहीं, लोगों के अधिकारों की गलती बन जाती है।

इसी वजह से मुक़दमे का नाम, फैसला देने वाली अदालत, तारीख और सामने रखा गया सवाल साथ पढ़ना चाहिए। क्या अदालत विवाह की वैधता तय कर रही थी, गुज़ारा भत्ता, संपत्ति या किसी प्रथा का संवैधानिक परीक्षण? एक सवाल का जवाब दूसरे सवाल में बिना कारण नहीं लगाया जा सकता। फैसले में आम टिप्पणी हो और अंतिम आदेश सीमित हो तो दोनों की जगह अलग लिखनी होगी।

मिसाल के तौर पर तलाक़ का दावा और उसका साबित होना अलग बातें हैं। किसी पति ने अदालत में कह दिया कि वह पहले ही तलाक़ दे चुका है, तो सिर्फ़ कहने से हर ज़रूरी सवाल खत्म नहीं होता। संबंधित न्यायिक सिद्धांतों के अनुसार घोषणा, सबूत और प्रक्रिया देखी जा सकती है। इसी तरह किसी संस्था का प्रमाणपत्र अपने आप अदालत के हर परीक्षण को खत्म नहीं करता। दस्तावेज़ का महत्व रहेगा, लेकिन उसका कानूनी असर भी जाँचा जा सकता है।

कानून पढ़ने की यह सावधानी हमारे समाज की बातचीत को बेहतर बना सकती है। किसी परिवार के सामने पुराना फैसला रखने से पहले यह पूछना चाहिए कि उसके बाद कोई कानून या निर्णय आया भी है या नहीं। अगर आया है तो पहले की बात किस सीमा तक बची है? तारीख इसलिए सजावट नहीं, मतलब का हिस्सा है। किताब में हम इसी रास्ते पर चलेंगे। कोई फैसला हमारे मन की बात कहता दिखाई दे तो भी उसका दायरा पढ़ेंगे। कोई फैसला असहज लगे तो भी उसे ईमानदारी से बताएँगे। लेखक की ज़िम्मेदारी पाठक को अपने पक्ष में खड़ा करना मात्र नहीं, उसे जानकारी के साथ सोचने की जगह देना भी है। तभी यह काम भरोसे के काबिल रह सकेगा।

मुस्लिम पर्सनल लॉ की चर्चा से साफ़ है कि हमारी पारिवारिक व्यवस्था कई स्तरों से मिलकर बनती है। 1937 का अधिनियम कुछ विषयों में मुस्लिम विधि को निर्णय का आधार देता है। 1939 का कानून महिलाओं के लिए विवाह विघटन के आधार साफ़ करता है। दूसरे आम कानून सुरक्षा और राहत के सवालियों में सामने आते हैं। इन सबके ऊपर संविधान की व्यापक व्यवस्था रहती है। किसी एक का नाम लेकर बाकी तस्वीर मिटा देना सही नहीं है।

लेकिन कानूनी पहचान जान लेना और उसका लाभ मिलना अलग बातें हैं। पत्नी को मेहर का अधिकार मालूम हो, फिर भी रकम तक पहुँचने में मुश्किल हो सकती है। बेटी का हिस्सा बनता हो, मगर ज़मीन के कागज़ उसके पास न हों। किसी महिला के लिए अदालत का रास्ता खुला हो, लेकिन खर्च, दूरी और समाज का दबाव उसे रोक दें। इसलिए कानून की कहानी में इन मुश्किलों को जगह मिलनी चाहिए। वरना अधिकार किताब में चमकेगा और ज़िंदगी में धुँधला रहेगा।

यहाँ समुदाय की ज़िम्मेदारी सामने आती है। परिवार में दस्तावेज़ पढ़ाने, महिलाओं को उनकी प्रतियाँ देने और विवाद के समय निष्पक्ष सहायता उपलब्ध कराने का काम किसी बड़े राजनीतिक ऐलान का इंतजार नहीं माँगता। हम अपने घर में यह बदलाव शुरू कर सकते हैं कि किसी सदस्य के अधिकार की बात को परिवार के खिलाफ बगावत न कहा जाए। हक़ समझना और रिश्ते निभाना एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

अगले अध्याय में यही सवाल गुज़ारे की ज़रूरत के साथ सामने आएगा। शाह बानो का मामला एक महिला की माँग से शुरू हुआ, लेकिन उसके बाद अदालत, संसद और सार्वजनिक बहस का लंबा सिलसिला बना। उस कहानी को सिर्फ़ जीत या हार के दो शब्दों में बाँटना ठीक नहीं। हमें 1985 का फैसला, 1986 का अधिनियम और बाद की न्यायिक व्याख्या पढ़नी होगी। तभी पता चलेगा कि तलाक़शुदा मुस्लिम महिला का आर्थिक अधिकार किस तरह समझा गया। इस यात्रा में हमारी निगाह उस महिला से नहीं हटेगी जिसे किसी बहस से पहले भोजन, रहने की जगह और सम्मानजनक ज़िंदगी चाहिए। कानून की असल परीक्षा उसी ज़रूरत के सामने होती है।

अध्याय 9 – शाह बानो, 1986 का कानून और भरण-पोषण

शाह बानो का नाम हिंदुस्तान की कानूनी और राजनीतिक तारीख में बार-बार सामने आता है। लेकिन नाम का शोर कभी उस महिला की असल ज़रूरत को पीछे कर देता है। उसका मामला गुज़ारे की माँग से जुड़ा था। शादी टूटने के बाद कोई महिला अपना खर्च नहीं उठा सकती तो उसकी ज़िंदगी का सहारा कौन बनेगा? यही सवाल अदालत के सामने पहुँचा और बाद में इस पर देशभर में बहस हुई। कहानी की शुरुआत पहचान की लड़ाई से पहले रोज़मर्रा की ज़रूरत से समझनी चाहिए।

1985 में सुप्रीम कोर्ट ने मोहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम मामले में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 का सवाल तय किया। यह धारा ज़रूरतमंद पत्नी, बच्चों और माता-पिता के भरण-पोषण, यानी गुज़ारा-भत्ता, की संक्षिप्त कानूनी व्यवस्था थी। इसमें पत्नी की परिभाषा में ऐसी तलाक़शुदा महिला भी शामिल थी जिसने दोबारा विवाह नहीं किया था। कानून का यह रास्ता किसी एक मज़हब की धार्मिक रस्म लागू कराने के लिए नहीं, बेसहारा स्थिति से राहत देने के लिए था।

अदालत ने मुस्लिम महिला के लिए भी इस व्यवस्था का रास्ता माना। विवाद में इद्दत, मेहर और पति की ज़िम्मेदारी से जुड़े तर्क सामने आए। लेकिन ज़रूरतमंद महिला के धारा 125 वाले अधिकार को सिर्फ़ धर्म के कारण बाहर नहीं किया गया। यह बात समझना ज़रूरी है कि फैसला किसी व्यक्ति को बिना शर्त मनचाही रकम दिलाने का आदेश नहीं था। उस धारा की अपनी पात्रता और मामले के तथ्य थे।

इस फैसले के बाद जो सार्वजनिक बहस उठी, उसमें मुस्लिम समाज के भीतर भी अलग आवाज़ें थीं। कुछ ने महिला की आर्थिक सुरक्षा को सामने रखा, कुछ ने पर्सनल लॉ में हस्तक्षेप की चिंता की। पूरे समुदाय की एक ही राय बताना इन मतभेदों को मिटा देगा। किताब में हमें फैसला और प्रतिक्रियाएँ अलग रखनी हैं। किसी नेता का बयान अदालत के आदेश का विकल्प नहीं, और अदालत का आदेश समाज की हर भावना का वर्णन नहीं। शाह बानो की कहानी तभी पूरी दिखेगी जब महिला का अधिकार, कानून का आधार और बहस का राजनीतिक असर अपनी अलग जगह पर पढ़े जाएँ। यहीं से शुरुआत होगी।

धारा 125 को समझे बिना शाह बानो का विवाद सिर्फ़ एक पुरानी खबर बनकर रह जाता है। उसकी व्यवस्था का मूल सवाल यह था कि पर्याप्त साधन रखने वाला व्यक्ति अपनी पत्नी, संतान या माता-पिता की ज़रूरत की उपेक्षा कर रहा है या नहीं। दावा करने वाले की अपनी स्थिति भी देखी जाती थी। इस तरह अदालत को संबंध, ज़रूरत और आर्थिक क्षमता की जाँच करनी होती थी। सिर्फ़ रिश्ता बता देने से हर मामले में आदेश निश्चित नहीं होता।

यह संक्षिप्त राहत का रास्ता था। समाज में कोई व्यक्ति लंबे विवाद के दौरान भूखा न रह जाए, यह उसके पीछे की चिंता थी। तलाक़शुदा पत्नी की परिभाषा इसी कारण अहम बनी। विवाह टूटने के बाद आर्थिक असुरक्षा बच सकती है। कानून ने उसे सिर्फ़ इस वजह से अदृश्य नहीं किया कि अब पति और पत्नी साथ नहीं रहते।

मगर भरण-पोषण की चर्चा में महिला को हमेशा पूरी तरह असहाय दिखाना भी ज़रूरी नहीं। उसकी आय, ज़रूरत, जीवन की परिस्थिति और पति की आर्थिक स्थिति सब देखे जा सकते हैं। आर्थिक सहायता का अधिकार किसी व्यक्ति के सम्मान को कम नहीं करता। घर सँभालने और बच्चों की देखभाल में बीते वर्षों की मेहनत भी ज़िंदगी की वास्तविकता है। उसे वेतन न मिला हो तो इसका मतलब यह नहीं कि उसने परिवार में कोई योगदान नहीं दिया।

कानूनी शब्दों से बाहर निकलकर देखें तो मामला किराया, भोजन, दवा और बच्चों की पढ़ाई तक आता है। इन्हीं ज़रूरतों के कारण विवाद अदालत तक पहुँचता है। किताब में हम किसी अज्ञात परिवार के लिए रकम तय नहीं करेंगे, मगर इतना कह सकते हैं कि गुज़ारे की माँग को लालच बताकर खारिज करना ठीक नहीं। उसी तरह हर आरोप को बिना सबूत सही मान लेना भी इंसाफ़ नहीं। अदालत का रास्ता दोनों पक्षों की बात सुनने और कानून के अनुसार ज़िम्मेदारी तय करने का है। शाह बानो मामले का महत्व इसी व्यवस्था में मुस्लिम महिला की जगह साफ़ होने से जुड़ा था। आगे बना विशेष कानून इसी पृष्ठभूमि में पढ़ना होगा; उसके नाम से पहले की सारी व्यवस्था मिटा देना सही इतिहास नहीं होगा।

शाह बानो के फैसले के अगले वर्ष संसद ने मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 बनाया, जिसका अंग्रेज़ी नाम The Muslim Women (Protection of Rights on Divorce) Act, 1986 है। यह राजीव गांधी के नेतृत्व वाली सरकार के दौर का कानून था। उसका शीर्षक तलाक़शुदा मुस्लिम महिलाओं के अधिकारों की रक्षा का दावा रखता था। लेकिन किसी अधिनियम का असर सिर्फ़ उसके नाम से नहीं समझा जा सकता। उसकी धाराएँ, न्यायिक व्याख्या और मिलने वाली राहत देखनी पड़ती है। इसी कानून के बारे में सार्वजनिक चर्चा में ज्यादा अधूरे निष्कर्ष सुनाई देते हैं।

धारा 3 तलाक़शुदा महिला के लिए उचित और न्यायसंगत प्रावधान तथा भरण-पोषण, मेहर और संबंधित संपत्तियों का सवाल उठाती है। पति द्वारा इदत की अवधि के भीतर किए जाने वाले प्रावधान की भाषा आगे अदालतों में अहम बनी। महिला खुद बच्चों का पालन कर रही हो तो अधिनियम में उनके लिए जन्म से दो वर्ष की अवधि से जुड़ा प्रावधान भी है। इस व्यवस्था को बच्चे के हर दूसरे आम अधिकार का पूरा अंत मान लेना गलत होगा।

मेहर तथा विवाह के समय या उसके बाद दी गई संबंधित संपत्ति की वापसी अधिकारों के रूप में सामने आती है। इसलिए किसी पति ने कह दिया कि मेहर दे चुका हूँ, तो उससे सभी आर्थिक सवाल अपने आप खत्म नहीं होंगे। क्या देय था, क्या दिया गया, क्या बाकी है और किस राहत की माँग की गई है, यह देखा जाएगा। पत्नी को दिए गए उपहार और परिवार की साझा चीज़ों के विवाद में भी सबूत का महत्व रहेगा।

धारा 3 के तहत देय चीज़ें न मिलने पर मजिस्ट्रेट के सामने आवेदन का रास्ता रखा गया। इस तरह कानून ने अधिकार के साथ उसे माँगने की प्रक्रिया भी दी। हमारी चर्चा में दोनों दिखने चाहिए। सिर्फ़ संसद ने संरक्षण दिया, ऐसा लिखने से लाभ साबित नहीं होता; सिर्फ़ सब अधिकार खत्म हो गए, ऐसा कहने से आगे के फैसले गायब हो जाते हैं। इस अध्याय की असल कहानी यही है कि कानून बना, उसकी भाषा पर सवाल उठे और अदालत ने उस भाषा को आर्थिक सुरक्षा की नज़र से समझा। पाठक को हर पड़ाव के बीच का फ़र्क़ साफ़ मिलेगा।

इदत शब्द की कानूनी चर्चा आते ही कई लोग मान लेते हैं कि महिला के आर्थिक अधिकार सिर्फ़ उतने समय तक रहेंगे। 1986 के कानून की न्यायिक व्याख्या ने इस निष्कर्ष को स्वीकार नहीं किया। बात यह है कि किसी प्रावधान को कब पूरा करना है और वह किन ज़रूरतों के लिए है, ये अलग सवाल हो सकते हैं। इन्हें मिला देने से महिला का भविष्य उसी दिन की सीमित रकम तक बाँध दिया जाता है।

दानियाल लतीफी बनाम भारत संघ के 2001 के फैसले में सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ ने इस अधिनियम की वैधता और मतलब पर विचार किया। अदालत ने उचित और न्यायसंगत प्रावधान को भविष्य की ज़रूरतों के लिए भी समझा। पति की ज़िम्मेदारी इदत की अवधि के भीतर ऐसा प्रावधान करने की है; उसका लाभ सिर्फ़ इदत के दिनों तक सीमित नहीं माना गया। यही अंतर इस फैसले की केंद्रीय बात है।

इससे एक उसूल निकलता है। यदि 1986 के मूल पाठ के कुछ शब्द पढ़कर हम लिख दें कि महिला को सिर्फ़ इदत का खर्च मिलेगा और फिर कुछ नहीं, तो बाद की बाध्यकारी व्याख्या हट जाएगी। दूसरी ओर यह कहना भी ठीक नहीं कि अदालत ने हर मामले में एक समान आजीवन रकम तय कर दी। उचित प्रावधान की मात्रा और रूप परिस्थितियों के अनुसार न्यायिक परीक्षण माँगते हैं।

भविष्य की ज़रूरतों में रहने, खाने और ज़िंदगी के खर्चों का सवाल आता है। महिला की आर्थिक स्थिति तथा पति के साधन जैसे तथ्य अहम हो सकते हैं। फैसले का सिद्धांत समझने और परिवार के लिए नतीजा तय करने में फ़र्क़ है। हम यहाँ सिद्धांत समझा रहे हैं। यह अधिकार न किसी समुदाय के खिलाफ़ बयान है, न विवाह की हर मुश्किल का एक ही इलाज। यह उस महिला की गरिमा का सवाल है जिसकी शादी खत्म हो चुकी है। कानून की भाषा को उसके भविष्य से जोड़कर पढ़ने से पता चलता है कि इंसान सिर्फ़ अलगाव के दिन तक नहीं रुकता। उसके बाद की ज़िंदगी भी अदालत की चिंता का हिस्सा बन सकती है, और यही बात आगे चर्चा में साथ रखनी होगी।

1986 के अधिनियम की धारा 4 का सवाल पति की धारा 3 वाली ज़िम्मेदारी से अलग है। इसमें ऐसी तलाक़शुदा महिला की स्थिति आती है जिसने दोबारा विवाह नहीं किया और इद्दत के बाद अपना भरण-पोषण नहीं कर सकती। तय शर्तों के अनुसार उसके उन रिश्तेदारों पर आदेश का सवाल उठ सकता है जो उसकी संपत्ति के उत्तराधिकारी होते। अधिनियम में भुगतान की क्षमता और रिश्तों के क्रम से जुड़े प्रावधान हैं। इसलिए सिर्फ़ रिश्तेदार शब्द पढ़कर हर रिश्तेदार को समान देनदार नहीं बनाया जा सकता।

कुछ मामलों में राज्य वक्फ़ बोर्ड की ज़िम्मेदारी का सवाल भी इस धारा में आता है। मगर इसका मतलब यह नहीं कि पति अपनी देयता बोर्ड पर डाल सकता है। पति के उचित प्रावधान, मेहर और संपत्ति संबंधी दायित्व पहले अपने आधार पर देखे जाएँगे। बोर्ड से जुड़ी व्यवस्था अलग शर्तों पर है। एक धारा का सहारा लेकर दूसरी की ज़िम्मेदारी गायब करना कानून की सही पढ़ाई नहीं।

यह फ़र्क़ सामाजिक बातचीत में ज़रूरी है। कोई कह दे कि तलाक़ के बाद महिला का खर्च मायके या वक्फ़ बोर्ड को देना है, तो उसके सामने पूरा अधिनियम और बाद की व्याख्या रखनी होगी। कानूनी क्रम जाने बिना ऐसी बात महिला को उसके दावे से दूर कर सकती है। संबंधित अदालत ही उपलब्ध तथ्यों के अनुसार आदेश देगी। पुस्तक का काम रास्ते अलग दिखाना है, किसी देनदार को मनमाने तरीके से चुनना नहीं।

इस विषय में एक अमली मुश्किल भी है। अधिकार की माँग करने वाली महिला को अक्सर घरवालों और संस्थाओं के बीच भेजा जाता रहता है। हर जगह कहा जाए कि दूसरा ज़िम्मेदार है तो उसकी परेशानी लंबी हो जाती है। इसलिए उसे साफ़ जानकारी मिलनी चाहिए कि कौन सा आवेदन किस आधार पर है और उसके लिए कौन से दस्तावेज़ ज़रूरी हैं। कानून का महत्व तभी है जब ज़िम्मेदारी पहचानने का रास्ता भी समझ आए। तलाक़ के विवाद में महिला को सिर्फ़ मदद माँगने वाली मानना अधूरा है; उसके पास कानूनी दावे हो सकते हैं। सहायता और अधिकार में यही फ़र्क़ उसे सम्मान के साथ अपनी बात रखने की जगह देता है।

1986 के कानून में धारा 5 भी रखी गई, जिसके तहत तय तरीके से पक्षकार धारा 125 से 128 वाली दंड प्रक्रिया व्यवस्था के अनुसार चलने की इच्छा व्यक्त कर सकते थे। इसे पढ़कर कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला कि विशेष कानून के बाहर भरण-पोषण का रास्ता हमेशा बंद है। लेकिन बाद के न्यायिक निर्णयों को पढ़े बिना ऐसा निष्कर्ष लिखना आज पाठक को अधूरी जानकारी देगा। कानून के अलग रास्तों का संबंध अदालतों ने समय के साथ और साफ़ किया।

इस सिलसिले में 4 दिसंबर 2009 का शबाना बानो बनाम इमरान खान फैसला भी अहम है। सुप्रीम कोर्ट ने बताया कि अपनी ज़रूरत के मुताबिक पात्र तलाकशुदा मुस्लिम महिला धारा 125 के तहत इदत के बाद भी गुज़ारे की मदद माँग सकती है, यदि उसने दोबारा शादी नहीं की है। इससे यह गलतफहमी दूर होती है कि इदत खत्म होते ही आम भरण-पोषण का हर रास्ता बंद हो जाता है। राहत का फैसला फिर भी उसके हालात और कानून की शर्तों के अनुसार होगा।

पुरानी चर्चा पढ़ते समय यह भी ध्यान रहे कि 1986 का कानून और आम भरण-पोषण कानून अलग उद्देश्यों तथा राहतों की भाषा रखते हैं। उचित प्रावधान, मेहर और संपत्ति की वापसी को सिर्फ़ मासिक गुज़ारा भत्ता कह देने से उनकी प्रकृति छिप सकती है। वहीं ज़रूरत के समय संक्षिप्त आम राहत को अनावश्यक बता देना भी महिला की असल स्थिति से दूर हो सकता है। अदालत दोनों व्यवस्थाओं के बीच संबंध समझती है।

पाठक के लिए सबसे उपयोगी बात यह है कि किसी एक पुराने वाक्य पर अपनी कानूनी उम्मीद बंद न करे। दस्तावेज़, मौजूदा लागू प्रक्रिया और संबंधित न्यायिक सिद्धांत देखकर दावे की जगह पहचानी जाए। समाज में सलाह देने वाला व्यक्ति अगर सिर्फ़ यह कह दे कि तुम्हारा धर्म अलग है, इसलिए तुम्हें अदालत से गुज़ारा नहीं मिलेगा, तो वह गंभीर नुकसान कर सकता है। हक़ की जानकारी भरोसेमंद होनी चाहिए। आगे 2024 का फैसला इसी सवाल पर साफ़ स्थिति सामने रखता है। उसे पढ़ने से समझ आएगा कि विशेष संरक्षण देने वाला अधिनियम महिला के दूसरे कानूनी रास्ते को किस तरह प्रभावित करता है और किस तरह नहीं। यह अंतर दावों की असल तैयारी में अहम है।

10 जुलाई 2024 को मोहम्मद अब्दुल समद बनाम तेलंगाना राज्य मामले में सुप्रीम कोर्ट ने आम भरण-पोषण और 1986 के विशेष अधिनियम का संबंध साफ़ किया। सवाल यह था कि तलाक़शुदा मुस्लिम महिला धारा 125 के तहत राहत माँग सकती है या उसे सिर्फ़ विशेष कानून के भीतर रहना होगा। अदालत ने आम कानूनी रास्ते को बंद नहीं माना। मुस्लिम महिला की पहचान उस राहत से उसे बाहर नहीं करती।

यह फैसला शाह बानो से शुरू हुई चर्चा में एक अहम कड़ी है। चार दशक की बहस को सिर्फ़ 1986 की एक राजनीतिक घटना पर रोक देने से आज की कानूनी स्थिति छिप जाती है। इस बीच दानियाल लतीफ़ी और अन्य निर्णय आए, फिर 2024 में इस सवाल पर फैसला हुआ। कानून की कहानी आगे बढ़ती रही। पुस्तक में भी उसी पूरी यात्रा को जगह मिलनी चाहिए।

अदालत ने विशेष अधिनियम को आम व्यवस्था का निषेध नहीं माना। इसका यह मतलब नहीं कि महिला एक ही खर्च की बिना समायोजन दोहरी वसूली कर सकती है। अलग कार्यवाहियों में दिए गए भुगतान और राहत को संबंधित मंच के सामने रखना पड़ सकता है। दावों की मौजूदगी तथा रकम का उचित समायोजन अलग सवाल हैं। इस फ़र्क़ को न समझें तो अधिकार की सही खबर भी कामकाजी भ्रम पैदा कर सकती है।

मामले में पति और पत्नी के आरोप, पहले के आदेश तथा अपील की परिस्थितियाँ भी थीं। हम निजी आरोपों को मुस्लिम समाज का नमूना नहीं बनाएँगे। कानूनी महत्व उस सिद्धांत में है जो अदालत ने आम राहत की उपलब्धता पर साफ़ किया। यह सिद्धांत महिला के नागरिक अधिकार और आर्थिक सुरक्षा को साथ रखता है। आखिर विवाह खत्म होने से उसकी नागरिकता खत्म नहीं होती। रोज़मर्रा के जीवन की गरिमा और कानून तक पहुँच का सवाल बाकी रहता है। समुदाय को इस जानकारी से घबराने के बजाय उसे ईमानदारी से समझना चाहिए। परिवार में इंसाफ़ होगा तो किसी पक्ष को सिर्फ़ अज्ञान के कारण दबाना मुश्किल होगा। इसी तरह पुरुष को भी अपना पक्ष और भुगतान का सबूत रखने की ज़रूरत समझ आएगी। इंसाफ़ दोनों की सुनवाई से बनता है।

भरण-पोषण की पुरानी चर्चा में धारा 125 का नाम मिलता है। लेकिन 1 जुलाई 2024 से भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 लागू होने पर नई प्रक्रियात्मक व्यवस्था सामने आई। उसमें पत्नी, बच्चों और माता-पिता के भरण-पोषण की संबंधित धारा 144 है। इतिहास बताते समय पुराने कानून का नाम ज़रूरी है; नई कार्यवाही की चर्चा में लागू नई संहिता का ध्यान रखना भी उतना ही ज़रूरी है। दोनों को एक ही तारीख का नियम मान लेना सही नहीं।

पुराने लंबित मामलों के लिए भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 की धारा 531 में बचाव संबंधी प्रावधान हैं। इनके अनुसार संहिता लागू होने से ठीक पहले लंबित संबंधित कार्यवाहियाँ पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता के अनुसार जारी रह सकती हैं। इसलिए सिर्फ नई धारा का नंबर देखकर हर चल रहे मुकदमे से पुरानी धारा नहीं हटाई जा सकती। मुकदमा कब शुरू हुआ, कौन सी प्रक्रिया लागू है और संबंधित अदालत का आदेश क्या कहता है, यह देखना होगा। यह फ़र्क मौजूदा प्रक्रिया समझने और पुराने फैसलों को उनके सही संदर्भ में पढ़ने के लिए ज़रूरी है।

नई संहिता में भी भरण-पोषण का मूल मानवीय सवाल वही है: परिवार के जिस सदस्य को अपने गुज़ारे का साधन नहीं, उसके प्रति कानूनी ज़िम्मेदारी कैसे तय हो? पर्याप्त साधन, उपेक्षा, पात्र संबंध और राहत की शर्तें पढ़नी पड़ती हैं। पत्नी की परिभाषा तथा दोबारा विवाह जैसे सवाल भी महत्व रखते हैं। सिर्फ धर्म या सिर्फ तलाक़ का शब्द देखकर अंतिम नतीजा नहीं निकाला जाएगा।

आम पाठक को कानूनी नंबरों की भीड़ से परेशान करने की ज़रूरत नहीं। उसे इतना साफ़ समझना चाहिए कि पुरानी खबर में धारा 125 पढ़ने और आज आवेदन करने के बीच प्रक्रियात्मक फ़र्क हो सकता है। वकील या कानूनी सहायता केंद्र उस स्थिति को सही तरह सामने रखेंगे। किताब उसकी जगह आवेदन का तैयार फैसला नहीं है। फिर भी सही सवाल पहचानना बड़ी मदद है। महिला अपने दस्तावेज़, पिछली रकम और अदालत के आदेश सँभाले तो दावा ज़्यादा साफ़ हो सकता है। पुरुष भी अपनी असल आय और भुगतान की जानकारी ईमानदारी से रखे। भरण-पोषण का मुकदमा छिपाव और अनुमान से उलझता है; साफ़ आर्थिक जानकारी से अदालत को ज़रूरत और ज़िम्मेदारी समझने में मदद मिलती है। बदली धारा का यह फ़र्क याद रहे।

भरण-पोषण के मुक़दमे में कानून का रास्ता जानने के साथ आर्थिक तथ्य भी अहम होते हैं। पति कितना कमाता है, पत्नी के पास अपनी आय क्या है, बच्चे की पढ़ाई का खर्च कितना है और रहने की व्यवस्था कैसी है? ये सवाल किसी परिवार की असल स्थिति बताते हैं। ज़रूरत और साधन दोनों का ईमानदार परीक्षण होना चाहिए।

घर में काम करने वाली महिला की मेहनत को समझना ज़रूरी है। उसने बच्चे पाले, बुजुर्गों की देखभाल की और परिवार का घरेलू काम सँभाला हो तो उसकी आर्थिक निर्भरता को आलस्य बताना गलत है। लंबे समय तक घर के लिए काम करने के बाद नौकरी मिल जाना हर किसी के लिए संभव नहीं। अदालत का सवाल कानून के अनुसार होगा, लेकिन समाज की समझ में इस योगदान के लिए सम्मान रहना चाहिए।

दस्तावेज़ यहाँ मदद करते हैं। निकाह का सबूत, अलग रहने की परिस्थिति, पहले के भुगतान और संबंधित आदेश अलग रखे जाएँ। खर्च के दावे सच पर हों। जो रकम मिल चुकी है उसे छिपाना और जो आय है उसे जानबूझकर कम बताना दोनों न्यायिक प्रक्रिया को कमज़ोर करते हैं। आर्थिक विवाद में किसी पक्ष का विरोध होने से सच बदल नहीं जाना चाहिए। अदालत को साफ़ जानकारी देना दोनों की ज़िम्मेदारी है।

समझौता हो सके तो उसमें रकम, भुगतान का तरीका और बाकी अधिकारों की स्थिति साफ़ लिखी जानी चाहिए। बिना समझे सब दावे छोड़ देने वाला काग़ज़ बाद में नुकसान पहुँचा सकता है। किसी महिला को यह कहकर हस्ताक्षर के लिए दबाना कि अदालत गई तो बच्चों का भविष्य बिगड़ेगा, उचित मध्यस्थता नहीं। इसी तरह सिर्फ़ मुक़दमे का डर दिखाकर बेतुकी माँग रख देना भी हल नहीं। सम्मानजनक समझौते की बुनियाद सही जानकारी है। यह अध्याय पाठक को उसी जानकारी तक ले जाना चाहता है। समाज की ज़िम्मेदारी है कि ज़रूरतमंद सदस्य को कानूनी सहायता लेने पर बदनाम न करे। उसे सुनवाई और सुरक्षित जीवन की जगह मिले। तलाक़ की चर्चा का मानवीय मूल्य तभी है जब अलग हो चुके लोगों की गरिमा भी बची रहे और बच्चों के भविष्य को आपसी नाराज़गी का साधन न बनाया जाए।

शाह बानो की कहानी को पीछे मुड़कर देखें तो चार पड़ाव दिखाई देते हैं। 1985 में आम भरण-पोषण व्यवस्था में मुस्लिम महिला का दावा समझा गया। 1986 में संसद ने तलाक़शुदा मुस्लिम महिलाओं के लिए विशेष अधिनियम बनाया। 2001 में दानियाल लतीफी के फैसले ने उचित प्रावधान को भविष्य की ज़रूरतों से जोड़ा। 2024 में अब्दुल समद के निर्णय ने आम राहत का रास्ता बंद न होने की स्थिति साफ़ की। इस क्रम को छोटा कर देंगे तो कानून का मतलब बदल जाएगा।

यहाँ सरकार का काम और अदालत का काम अलग हैं। संसद कानून बनाती है; अदालत उसके मतलब और संवैधानिक सवाल का परीक्षण करती है। किसी सरकार ने कानून बनाया तो वह उसके राजनीतिक इतिहास का हिस्सा होगा। अदालत ने उसकी व्याख्या की तो उसे उसी सरकार का नया कानून नहीं कहेंगे। इसी तरह किसी फैसले की आलोचना और उसकी बाध्यकारी कानूनी जगह अलग रह सकती हैं। इतिहास लिखने में यह फ़र्क़ ईमानदारी की ज़रूरत है।

मुस्लिम समाज के लिए इस पूरे सिलसिले का संदेश अधिकार की जानकारी से जुड़ा है। तलाक़शुदा महिला को सिर्फ़ सामाजिक सहायता का पात्र समझना पर्याप्त नहीं। उसके कानूनी दावे भी हो सकते हैं। पति की ज़िम्मेदारी, रिश्तेदारों की विशेष स्थिति और अन्य मंचों की राहत अलग आधारों पर देखी जाएँगी। महिला की अपनी परिस्थिति तथा मिल चुकी रकम भी छिपाई नहीं जाएगी। इंसान किसी पक्ष के नाम से पहले ही तय नहीं होता।

अब हम अगले अध्याय में तत्काल तीन तलाक़ की तरफ़ जाएँगे। वहाँ विवाह के टूटने की वैधता और अपराध बनाए जाने का सवाल सामने आएगा। भरण-पोषण का यह अध्याय साथ रहेगा, क्योंकि तलाक़ का शब्द सुनने वाली महिला को सिर्फ़ यह जानना नहीं होता कि निकाह बचा है या टूट गया। उसे रहना कहाँ है, खर्च कैसे चलेगा और बच्चे की देखभाल कैसे होगी, यह भी जानना होता है। इसलिए अगले कानून को सिर्फ़ सजा की धारा के सहारे नहीं पढ़ेंगे। विवाह की स्थिति, आर्थिक राहत और न्यायिक प्रक्रिया तीनों सामने रखेंगे। तभी पाठक किसी घटना का कानूनी मतलब समझ सकेगा और शोर से बाहर उसकी ज़रूरत पहचान पाएगा।

अध्याय 10 – तीन तलाक़ और 2019 का कानून

तीन तलाक़ की चर्चा में पहले यह साफ़ करना होगा कि हम किस रूप की बात कर रहे हैं। हर तरह के विवाह विच्छेद को एक ही नाम दे देने से कानून का दायरा बिगड़ जाता है। तुरंत और वापस न लिए जा सकने वाले रूप में शादी खत्म करने वाली घोषणा इस अध्याय का विषय है। सार्वजनिक भाषा में इसे तत्काल तीन तलाक़ कहा गया। मगर तीन शब्द गिनना काफ़ी नहीं; कानून में दी गई परिभाषा भी पढ़नी होगी।

इस विवाद की मानवीय ज़मीन घर के भीतर थी। किसी महिला को अचानक बताया जाए कि रिश्ता खत्म है तो उसके सामने सिर्फ़ मज़हबी सवाल नहीं आते। रहने की जगह, आर्थिक सहारा, बच्चों की देखभाल और समाज में उसकी स्थिति सब प्रभावित हो सकते हैं। दूसरी ओर विवाह की कानूनी स्थिति साफ़ किए बिना उसे असल में तलाक़शुदा कह देना भी गलत हो सकता है। इसलिए पहले घोषणा का कानूनी असर समझना ज़रूरी है।

2017 में शायरा बानो बनाम भारत संघ मामले में सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ ने तत्काल तीन तलाक़ के सवाल पर फैसला दिया। 2019 में संसद ने मुस्लिम महिला (विवाह अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 2019 बनाया। इसका अंग्रेज़ी नाम The Muslim Women (Protection of Rights on Marriage) Act, 2019 है। अदालत के फैसले और संसद के दंडात्मक विधान के बीच फ़र्क़ है। उन्हें एक ही घटना लिख देंगे तो पाठक यह समझ सकता है कि जेल की सजा अदालत ने 2017 में ही बना दी थी। ऐसा नहीं था।

इस अध्याय में हम दोनों पड़ाव क्रम से पढ़ेंगे। पहले किस प्रथा की वैधता पर सवाल उठा, फिर कानून ने किस घोषणा को शून्य और गैरकानूनी बनाया तथा उसके लिए क्या सजा और राहत रखी। महिला की शिकायत, जमानत, समझौते और बच्चों की अभिरक्षा से जुड़े प्रावधान भी सामने आएँगे। कोई अधिनियम सिर्फ़ एक कठोर धारा से पूरा नहीं होता। उसमें प्रक्रिया और सुरक्षा का ढाँचा होता है। हमारी निगाह दोनों पर होगी। ऐसा पढ़ने से न महिला को उसके अधिकार के बारे में गलत भरोसा मिलेगा, न पुरुष को कानून के दायरे के बारे में गलत डर। जानकारी ही संवेदनशील विवाद में जिम्मेदार चर्चा की पहली शर्त है।

22 अगस्त 2017 का शायरा बानो फैसला पाँच न्यायाधीशों वाली संविधान पीठ का था। तत्काल तीन तलाक़ को तीन और दो के बहुमत से रद्द किया गया। लेकिन बहुमत के भीतर भी सभी न्यायाधीशों ने बिल्कुल एक ही रास्ते से निष्कर्ष नहीं निकाला। फैसले की यह बनावट समझना ज़रूरी है, क्योंकि समाचार की एक पंक्ति में अलग अहम न्यायिक तर्क अक्सर गायब हो जाते हैं। फैसले की अलग-अलग राय और बहुमत का नतीजा साथ पढ़ना ज़रूरी है।

दो न्यायाधीशों ने इस व्यवस्था को स्पष्ट मनमानेपन और संवैधानिक बराबरी के सवाल से देखा। एक अन्य न्यायाधीश ने इस्लामी विधि तथा संबंधित अधिनियम की समझ से तत्काल तीन तलाक़ की वैधता नहीं मानी। नतीजे में बहुमत साथ था, पर उसके सारे कारण समान नहीं थे। इसलिए पाँचों न्यायाधीशों ने एकमत होकर पूरे मुस्लिम पर्सनल लॉ को असंवैधानिक कहा, ऐसा कथन तथ्य से बहुत दूर होगा।

अल्पमत की राय भी फैसले का हिस्सा है, लेकिन वह बहुमत के अंतिम नतीजे की जगह नहीं लेती। अदालत के दस्तावेज़ में हर राय दर्ज रहती है। हमें यह बताना होगा कि कौन सा मत निर्णायक नतीजे में आया और कौन सा अलग रहा। सिर्फ़ अपने पक्ष का पैराग्राफ़ चुन लेने से मुक़दमे का कानूनी मतलब नहीं बताया जा सकता। यही सावधानी सभी संवैधानिक फैसलों में चाहिए।

इस फैसले का दायरा तत्काल तीन तलाक़ पर था। उससे विवाह खत्म करने की हर दूसरी व्यवस्था का अपने आप अंत नहीं निकलेगा। निकाह, अन्य तलाक़ रूप, खुला या अदालत से विवाह विघटन के सवाल अपनी अलग कानूनी बुनियाद रख सकते हैं। पाठक को कानून के नाम पर भ्रमित न करना हमारी ज़िम्मेदारी है। महिलाओं की सुरक्षा की बात मज़बूत तभी होती है जब उसका कानूनी विवरण सही हो। किसी विशेष प्रथा के रद्द होने से परिवार की हर समस्या खत्म नहीं होती, लेकिन उस प्रथा के कानूनी असर पर स्पष्टता आती है। आगे संसद ने उसी क्षेत्र में दंड और राहत की व्यवस्था जोड़ी। दोनों को साथ पढ़ेंगे, मगर उनके अलग स्रोत और अलग तारीख़ को मिलाएँगे नहीं। न्यायिक राय का फ़र्क़ समझना अंतिम नतीजा समझने जितना ही अहम रहेगा।

2017 के फैसले और 2019 के अधिनियम के बीच अध्यादेश और विधायी प्रक्रिया का दौर भी आया। मुस्लिम महिला (विवाह अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 2019 को 31 जुलाई 2019 को राष्ट्रपति की मंजूरी मिली। अधिनियम में इसे 19 सितंबर 2018 से प्रभावी माना गया है। इसलिए राष्ट्रपति की मंजूरी की तारीख और कानून के प्रभावी होने की तारीख में अंतर है। इस फ़र्क को छोड़ देने से किसी घटना पर कौन सी व्यवस्था लागू थी, यह सवाल उलझ सकता है।

यह कानून नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली सरकार के दौर में संसद से आया। सरकार ने इसे मुस्लिम महिलाओं की सुरक्षा की व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन उसका कानूनी परीक्षण हम प्रचार की भाषा से नहीं, अधिनियम की धाराओं से करेंगे। जिस तरह किसी विरोधी का बयान कानून नहीं है, उसी तरह सरकार का मक़सद बताने वाला वक्तव्य भी हर अमली नतीजे का सबूत नहीं होता। मक़सद और प्रभाव के बीच तथ्य चाहिए।

अधिनियम की परिभाषा तलाक़-ए-बिद्दत या उसके समान ऐसे रूप को पकड़ती है जिससे तत्काल और अपरिवर्तनीय विवाह विच्छेद का प्रभाव होता है। यही परिभाषा आगे की धाराओं का दायरा तय करती है। सिर्फ़ तलाक़ शब्द सुनाई देने से हर मामले पर यह दंडात्मक अधिनियम लागू मान लेना उचित नहीं। घटना में क्या कहा गया, उसका संदर्भ और उसका कानूनी रूप जाँचना पड़ता है।

पाठक के लिए इस कानून की बनावट समझना उपयोगी है। पहले परिभाषा आती है, फिर घोषणा को शून्य और गैरकानूनी करने की धारा, उसके बाद सजा तथा आर्थिक सहायता और बच्चों के सवाल। अंत में शिकायत, समझौता और जमानत की प्रक्रिया है। इन हिस्सों को अलग पढ़ने से कानून ज़्यादा साफ़ दिखाई देता है। विवाह बचा रहने का सवाल और घोषणा करने वाले पर अपराध का सवाल साथ मौजूद हो सकते हैं। यही बात आम बातचीत में ज्यादा छूटती है। आगे हम उसे साफ़ करेंगे, ताकि किसी महिला को गलत तरीके से तलाक़शुदा मानकर घर से बाहर करने की बात और कानून में विवाह की स्थिति के बीच का अंतर समझ आए। जानकारी तभी उपयोगी होगी जब वह परिवार की अगली कार्रवाई को सही दिशा दे सके।

2019 के अधिनियम की धारा 3 उसके मूल प्रभाव को सामने रखती है। परिभाषित तलाक़ की घोषणा, चाहे बोलकर हो, लिखकर हो, इलेक्ट्रॉनिक रूप में हो या किसी दूसरे तरीके से, शून्य और गैरकानूनी है। इसका मतलब यह है कि उस निषिद्ध घोषणा से विवाह कानूनी रूप में खत्म नहीं हो जाता। महिला को पति के ऐसा कहने से इस कानून के तहत तलाक़शुदा मान लेना गलत होगा।

इसे समझें। कोई व्यक्ति ऐसी घोषणा कर दे जो कानून ने बेअसर कर दी है, तो उसके द्वारा दावा किया गया विवाह विच्छेद नतीजा नहीं बनता। लेकिन घटना का अपराध संबंधी सवाल अलग रह सकता है। घोषणा शून्य है, इसलिए उसके करने पर कोई कानूनी नतीजा ही नहीं होगा, यह निष्कर्ष भी गलत है। विवाह पर प्रभाव और दंडात्मक जवाबदेही दो अलग स्तर हैं।

इसी कारण पीड़ित महिला की स्थिति को सोचते समय सावधानी चाहिए। वह शादी खत्म मानकर अपने सारे वैवाहिक अधिकार छोड़ दे, या परिवार उससे यही करवाए, तो नुकसान हो सकता है। दूसरी ओर विवाह बाकी होने का मतलब यह नहीं कि उसे हिंसा, उपेक्षा या असुरक्षा में उसी घर में रहना ही होगा। दूसरे लागू कानूनों की सुरक्षा तथा संबंधित न्यायिक राहत अपने आधार पर देखी जा सकती है। निकाह की स्थिति और रहने की सुरक्षित व्यवस्था अलग सवाल हैं।

समाज में सलाह देने वाले लोगों को यह फ़र्क़ साफ़ रखना चाहिए। किसी मस्जिद, परिवार या पंचायत में मामला आए तो सिर्फ़ घोषणा के शब्द सुनकर अंतिम वैवाहिक स्थिति बता देना पर्याप्त नहीं। दस्तावेज़ और कानून की जानकारी के साथ महिला को उचित सहायता मिले। यदि विवाद अदालत तक जाए तो वही सक्षम मंच तथ्य और लागू प्रावधान तय करेगा। इस किताब का मक़सद व्यक्ति को घबराकर फैसला लेने से बचाने लायक जानकारी देना है। अचानक मिली चोट के समय मनुष्य अक्सर जल्दी में कदम उठाता है। कानूनी समझ उसे अपने अधिकार, बच्चों और भविष्य के बारे में सोचने की जगह देती है। निषिद्ध घोषणा का असर समझना उसी जगह की शुरुआत है। आगे सजा की धारा पढ़ते समय भी हम विवाह की इस स्थिति को याद रखेंगे।

अधिनियम की धारा 4 निषिद्ध तलाक़ की घोषणा करने वाले मुस्लिम पति के लिए तीन वर्ष तक कारावास और जुर्माने का प्रावधान रखती है। यहाँ तक शब्द का मतलब समझना ज़रूरी है। अधिनियम ने हर मामले में ठीक तीन वर्ष की सजा तय नहीं की। अपराध साबित होने और सजा तय करने की न्यायिक प्रक्रिया रहती है। आरोप लगना, मुक़दमा चलना और दोषसिद्धि, यानी दोष साबित होना, अलग स्थितियाँ हैं।

दंडात्मक व्यवस्था के कारण कानून पर बहस हुई। समर्थन में यह तर्क रहा कि निषिद्ध प्रथा को रोकने के लिए मज़बूत कार्रवाई चाहिए। आलोचना में पूछा गया कि विवाह पर असर न रखने वाली घोषणा को जेल की सजा से जोड़ने पर परिवार की आर्थिक स्थिति और संबंधों पर क्या असर होगा। इन तर्कों को उनके पक्ष के रूप में बताया जा सकता है। मगर किसी तर्क को अदालत का अंतिम निष्कर्ष तब तक नहीं कहेंगे जब तक संबंधित निर्णय सामने न हो।

कानून पढ़ते समय अभियुक्त के अधिकार भी देखे जाते हैं। शिकायत को बिना जाँच दोषसिद्धि मानना इंसाफ़ नहीं। वहीं महिला की बात को सिर्फ़ घरेलू नाराज़गी बताकर खारिज करना भी इंसाफ़ नहीं। घटना का सबूत, उसके संदर्भ और अधिनियम की शर्तें तय प्रक्रिया में परखी जाएँगी। इस सिद्धांत से किसी पक्ष का अधिकार घटता नहीं, बल्कि सुनवाई की निष्पक्षता बचती है।

सजा का ज़िक्र किताब में ज़रूरी है, मगर यही पूरा अध्याय नहीं हो सकता। पीड़ित महिला को आर्थिक सहारा, बच्चों की सुरक्षा और शिकायत के बाद की ज़िंदगी के बारे में भी जवाब चाहिए। पति जेल जाए या जमानत पर रहे, दोनों स्थितियों में व्यवहार की असल समस्याएँ हो सकती हैं। उनके हल के लिए कानून के बाकी प्रावधान तथा लागू अन्य रास्ते देखे जाएँगे। हम किसी परिवार का नतीजा अनुमान से नहीं लिखेंगे। लेकिन इतना जरूर पूछेंगे कि संरक्षण का दावा जीवन में किस तरह पहुँचा। दंड का प्रावधान और महिला की आर्थिक गरिमा साथ पढ़ना ज़रूरी है। सिर्फ़ सजा गिनने से सुरक्षा की पूरी तस्वीर नहीं बनती; उसका असर समझने के लिए असल राहत और न्यायिक प्रक्रिया की स्थिति भी सामने रखनी पड़ती है।

2019 के कानून की धारा 5 महिला और उसके आश्रित बच्चों के लिए निर्वाह भत्ते की व्यवस्था रखती है। रकम पति से मिलने और मजिस्ट्रेट द्वारा निर्धारित होने का सवाल इसमें आता है। यह सरकारी भुगतान नहीं है जो शिकायत करते ही अपने आप खाते में आ जाए। पात्रता, आदेश और असल भुगतान को अलग समझना होगा। कानून में हक़ लिखे होने तथा उसके मिलने के बीच प्रक्रिया होती है।

इस धारा में दूसरे लागू कानूनों की व्यापक व्यवस्था को प्रभावित किए बिना राहत की बात है। इससे समझ आता है कि एक विशेष अधिनियम के भीतर आया आर्थिक अधिकार सारे अन्य आर्थिक रास्तों का अंत नहीं बन जाता। लेकिन अलग दावों में भुगतान और आदेश की जानकारी साफ़ रखना ज़रूरी है। एक ही ज़रूरत की दोहरी वसूली का सवाल और अलग राहतों की उपलब्धता अपनी अलग कानूनी जाँच माँगते हैं।

महिला की ज़रूरत भोजन तक सीमित नहीं रहती। किराया, दवा, यात्रा और बच्चे की पढ़ाई जैसे खर्च ज़िंदगी का हिस्सा हैं। अदालत संबंधित कानून और तथ्यों के अनुसार रकम देखेगी। किताब सबके लिए एक निश्चित भत्ता नहीं लिख सकती। किसी परिवार में पति की नियमित नौकरी हो सकती है, दूसरे में अनिश्चित मजदूरी। महिला की आय और बच्चों की परिस्थिति भी अलग होगी। इंसानों के लिए असल जानकारी चाहिए।

यहाँ सहायता भी अहम है। शिकायत करने वाली महिला से खर्च खुद सँभाल लेने की उम्मीद अक्सर अवास्तविक होती है। परिवार उसे रहने की सुरक्षित जगह और दस्तावेज़ सँभालने में मदद दे सकता है। सहायता देना उपयोगी है। मगर मदद के बदले उसके दावे छुड़वाना या उसे अपनी बात बदलने पर मजबूर करना सहायता नहीं। उसका फैसला हक़ की जानकारी के साथ और बिना दबाव होना चाहिए। यह बात कानून के संरक्षण को सम्मान के साथ जोड़ती है। इस अध्याय में हम आर्थिक राहत का ज़िक्र सिर्फ़ सजा के बाद की छोटी टिप्पणी के रूप में नहीं रख रहे। महिला की ज़िंदगी में उसकी जगह केंद्रीय है। विवाह की वैधता जानने के बाद उसे गुज़ारे का भरोसेमंद रास्ता भी समझना होगा, तभी कानून की जानकारी उसके लिए सहारा बन सकेगी।

बच्चे किसी वैवाहिक विवाद के पक्षकार की तरह पैदा नहीं होते, लेकिन उसका असर पहले उनकी ज़िंदगी पर पड़ सकता है। माता-पिता में दूरी आए तो स्कूल, रहने की जगह और देखभाल बदल जाती है। 2019 के अधिनियम की धारा 6 में नाबालिग बच्चों की अभिरक्षा का सवाल रखा गया है। परिभाषित तलाक़ की घोषणा की स्थिति में विवाहित मुस्लिम महिला को मजिस्ट्रेट द्वारा तय तरीके से अभिरक्षा का अधिकार मिलता है।

इस धारा को पढ़ते समय तय तरीके वाले हिस्से को हटाना उचित नहीं। एक पंक्ति के आधार पर हर विवाद में सारी व्यवस्था अपने आप तय मान लेना अधूरा है। संबंधित मंच को तथ्य और कानून देखना होता है। बच्चों की तत्काल सुरक्षा, उनका पालन और उनसे जुड़े दूसरे आदेश भी महत्व रख सकते हैं। किताब किसी अज्ञात बच्चे के लिए अभिरक्षा आदेश नहीं लिख सकती।

आम बातचीत में अभिरक्षा, कानूनी संरक्षकता और मिलने की व्यवस्था को एक ही शब्द बना दिया जाता है। लेकिन इनके कानूनी सवाल अलग हो सकते हैं। बच्चा किसके साथ रहेगा, उसके बारे में औपचारिक निर्णय कौन ले सकता है और दूसरे अभिभावक से संपर्क कैसे होगा—इनका जवाब संबंधित कानून तथा आदेश से आएगा। अभिरक्षा की एक धारा पढ़कर बाकी सभी सवाल खत्म नहीं मान लेने चाहिए।

समाज के ज़िम्मेदार लोगों को बच्चों को दबाव का साधन बनने से रोकना चाहिए। महिला शिकायत वापस ले तभी बच्चा मिलेगा, या पति पैसे दे तभी मुलाक़ात होगी, जैसी बातें गंभीर नाइंसाफी को जन्म दे सकती हैं। हर परिस्थिति में सुरक्षा और लागू आदेश को सामने रखा जाए। बच्चों को माता-पिता की आपसी नाराज़गी की कीमत चुकाने के लिए मजबूर करना ठीक नहीं। किताब का मानवीय आग्रह इतना है कि कानूनी विवाद के बीच बच्चे की ज़रूरत दिखाई देती रहे। कानून की चर्चा सिर्फ़ वयस्कों की जीत और हार में अटक जाए तो उसकी पढ़ाई छूट जाती है, उसका डर अनसुना रह जाता है। आर्थिक राहत और अभिरक्षा को साथ पढ़ने से परिवार की असल स्थिति ज़्यादा साफ़ होती है। आगे शिकायत और जमानत की प्रक्रिया समझते समय भी इन बच्चों का सवाल हमारे सामने रहेगा।

2019 के अधिनियम की धारा 7 शिकायत की प्रक्रिया में विशेष शर्त रखती है। संबंधित अपराध संज्ञेय होने के लिए सूचना उस विवाहित मुस्लिम महिला द्वारा, जिसके ऊपर परिभाषित तलाक़ की घोषणा हुई है, या उससे रक्त अथवा विवाह के संबंध वाले व्यक्ति द्वारा दी जाए। इसलिए कोई भी असंबंधित व्यक्ति इसी धारा के तहत समान भूमिका रखता है, ऐसा आम कथन ठीक नहीं। कानून में बताई गई सूचना की शर्त पढ़नी होगी।

संज्ञेय में बिना वारंट गिरफ्तारी संभव है; सूचना मिलने से अपराध साबित नहीं होता। पुलिस की प्रक्रिया, सबूत और न्यायिक सुनवाई अपनी जगह रहती हैं। शिकायत की पहली स्थिति को अदालत के अंतिम निर्णय की तरह प्रस्तुत करना गलत है। पुस्तक में किसी उदाहरण की चर्चा होगी तो उसके चरण साफ़ किए जाएँगे। आरोप, आरोपपत्र और दोषसिद्धि को एक ही भाषा में नहीं लिखा जाएगा।

महिला के लिए शिकायत का रास्ता असल रूप में मुश्किल हो सकता है। कभी उसे घटना की तारीख़ याद रखने, संदेश सुरक्षित करने या सबूत जुटाने में मदद चाहिए। मगर सबूत की सहायता और कहानी बनवाने में फ़र्क़ है। जो हुआ वही दर्ज होना चाहिए। किसी सामाजिक समूह का उत्साह तथ्य को बदलने की अनुमति नहीं देता। इंसाफ़ जानकारी पर ही आगे बढ़ सकता है।

पुरुष की तरफ़ से भी रिकॉर्ड और असल घटना का साफ़ विवरण ज़रूरी है। अगर विवाद किसी दूसरे रूप की घोषणा या किसी अलग परिस्थिति का है तो उसे कानूनी प्रक्रिया में रखा जाएगा। बिना तथ्य देखे हर पति को अपराधी और हर शिकायत को झूठा कहना दोनों गैरजिम्मेदार बातें हैं। निष्पक्ष सुनवाई महिला की सुरक्षा और अभियुक्त के अधिकार को साथ रखती है। इसीलिए कानून की जानकारी देने वाले को धारा की शर्तें पूरी बतानी चाहिए। कोई परिवार पुलिस तक पहुँचे तो उसे यह मालूम हो कि आगे न्यायिक प्रक्रिया भी होगी। शिकायत का मतलब सिर्फ़ संघर्ष शुरू करना नहीं; वह संरक्षण और ज़िम्मेदारी तय करने का रास्ता भी हो सकती है। उस रास्ते को साफ़ समझने से अनावश्यक भ्रम कम होता है और संबंधित पक्ष अपने अधिकार तथा दायित्व ज़्यादा ज़िम्मेदारी से पहचान सकते हैं।

2019 का कानून जमानत को पूरी तरह असंभव नहीं बनाता। धारा 7 में मजिस्ट्रेट के सामने आवेदन, संबंधित महिला को सुनना और जमानत के लिए उचित आधार होने की संतुष्टि का सवाल है। इसलिए सिर्फ़ गैरजमानती जैसा शब्द सुनकर यह कह देना कि कोई अदालत जमानत दे ही नहीं सकती, गलत है। निर्धारित न्यायिक प्रक्रिया के तहत जमानत का रास्ता मौजूद है। उसके नतीजे पर मामले के तथ्य और कानून असर डालेंगे।

महिला को सुनने की शर्त अहम है। इसका मतलब यह नहीं कि सिर्फ़ उसकी इच्छा से अदालत की सारी भूमिका खत्म हो जाती है। मजिस्ट्रेट को कानून के अनुसार संतुष्टि बनानी होती है। महिला की बात सुनना और अंतिम न्यायिक निर्णय लेना अलग पड़ाव हैं। अभियुक्त की बात भी तय प्रक्रिया में रखी जाती है। हम दोनों के बीच का फ़र्क़ साफ़ लिखेंगे।

इसी धारा में समझौते की व्यवस्था भी है। संबंधित महिला की पहल पर, मजिस्ट्रेट की अनुमति और उसके तय नियमों तथा शर्तों के साथ अपराध का शमन, यानी कानूनी समझौता, हो सकता है। इससे परिवार के बीच निजी समझौते और कानूनी कार्यवाही के औपचारिक नतीजे का अंतर सामने आता है। घर में हाथ मिलाने से अदालत की फाइल अपने आप खत्म मान लेना उचित नहीं। सक्षम मंच की प्रक्रिया पूरी करनी होगी।

समझौते का अधिकार महिला की आवाज़ के साथ जुड़ा है। उस पर दबाव डालकर बयान बदलवाना संरक्षण की भावना को कमज़ोर करता है। वहीं इच्छा से मेल की राह बने तो उसे कानून के भीतर समझना चाहिए। इस तरह किताब पाठक को कठोर शब्दों के बीच उपलब्ध प्रक्रियाएँ भी दिखाती है। सजा, शिकायत, जमानत और शमन चारों का अपना मतलब है। इनमें किसी एक को हटाकर कानून की पूरी तस्वीर नहीं बनती। परिवार के विवाद में जल्दबाजी नुकसान बढ़ा सकती है। साफ़ जानकारी से पक्षकार जान पाते हैं कि किस निर्णय के लिए पुलिस, किसके लिए मजिस्ट्रेट और किसके लिए दूसरे सक्षम मंच की भूमिका है। हम कानून को इसी समझ के साथ पढ़ेंगे, ताकि अधिकार सिर्फ़ घोषणा न रहे और प्रक्रिया सिर्फ़ भय का नाम न बन जाए। प्रक्रिया समझना ज़रूरी है।

तीन तलाक़ की कानूनी यात्रा अपने क्रम में समझ आती है। 2017 के फैसले ने तत्काल तीन तलाक़ की वैधता का सवाल तय किया। 2019 के अधिनियम ने परिभाषित घोषणा को शून्य और गैरकानूनी बनाकर दंड, निर्वाह भत्ता, बच्चों की अभिरक्षा तथा शिकायत की विशेष प्रक्रिया रखी। दोनों के स्रोत अलग हैं। एक अदालत का फैसला है, दूसरा संसद का अधिनियम। इन्हें मिलाने से अधिकार और जवाबदेही दोनों की पहचान बिगड़ सकती है।

इस व्यवस्था का मतलब विवाह विच्छेद की हर राह का अंत नहीं। कानून में जिस रूप की घोषणा पर रोक है, उसी के आधार पर उसका दायरा समझना होगा। महिला का विवाह कायम रहना, दूसरी राहत माँगना और किसी अन्य वैध प्रक्रिया से संबंध खत्म करने का सवाल अलग हो सकता है। कोई परिवार अपनी खास स्थिति समझना चाहे तो पूरे तथ्य रखने होंगे। पुस्तक आम सिद्धांत बताएगी, अधूरी जानकारी में निजी फैसला नहीं करेगी।

सरकारों का हिसाब लिखते समय भी हमें यही ईमानदारी रखनी है। कानून किस दौर में बना, उसके समर्थकों ने क्या मक़सद बताया और आलोचकों ने क्या सवाल उठाए, यह राजनीतिक इतिहास का हिस्सा है। संरक्षण कितना मिला, उसके लिए आँकड़े, आदेश और अनुभव चाहिए। बिना सबूत यह कहना कि हर मुस्लिम महिला सुरक्षित हो गई, सही नहीं; बिना अध्ययन यह कहना कि किसी को कोई लाभ नहीं मिला, वह भी सही नहीं।

महिला की आवाज़ इस पूरे अध्याय का केंद्र बनी रहनी चाहिए। उसके लिए सम्मान, सुरक्षित निवास, आर्थिक सहारा और बच्चों की देखभाल कानून के नाम से ज़्यादा बातें हैं। पति का निष्पक्ष सुनवाई का अधिकार भी कायम है। इंसाफ़ इसी संतुलित प्रक्रिया से आगे बढ़ता है। अब अगले अध्याय में हम परिवार की निजी संपत्ति से समुदाय के वक्फ़ की तरफ़ जाएंगे। वहाँ सवाल होगा कि समर्पित संपत्ति का मक़सद कैसे बचता है, उसका रिकॉर्ड कौन रखता है और राज्य का नियमन कहाँ तक जाता है। उस चर्चा में भी कानून का मूल पाठ, बाद का संशोधन और अदालत का आदेश अलग पढ़ेंगे। यही तरीका हमें भावनाओं का सम्मान करते हुए तथ्य से जुड़ी बात कहने का अवसर देता है।

अध्याय 11 – वक्फ़ कानून: 1995 और 2025 तक बदलाव

वक्फ़ का नाम आते ही मस्जिद, कब्रिस्तान, मदरसा और समाज की साझा ज़रूरतों की तस्वीर सामने आती है। लेकिन हर मुस्लिम संस्था की हर संपत्ति अपने आप वक्फ़ नहीं होती। वक्फ़ की कानूनी पहचान समर्पण, मक़सद और लागू विधि से जुड़ती है। इसलिए किसी ज़मीन पर मुसलमान रहते हैं या वहाँ मज़हबी काम होता है, इतना भर हर मामले में अंतिम कानूनी पहचान नहीं बता सकता। उसके दस्तावेज़ और इतिहास भी देखने होंगे।

साधारण भाषा में वक्फ़ किसी संपत्ति को इस्लामी विधि के मान्य धार्मिक, पवित्र या परोपकारी मक़सद के लिए स्थायी रूप से समर्पित करने की व्यवस्था से जुड़ा है। समर्पण करने वाला और उसके बाद प्रबंध सँभालने वाला अलग हो सकता है। मुतवल्ली की भूमिका संपत्ति को अपने निजी लाभ की जायदाद बना लेने की नहीं है। मक़सद और ज़िम्मेदारी का सवाल यहाँ केंद्रीय है।

यह व्यवस्था मुस्लिम समाज के लिए सिर्फ़ अतीत की निशानी नहीं। उसकी आय से तालीम, सहायता और संस्था के खर्च का संबंध हो सकता है। कोई दुकान किराए पर हो, ज़मीन से आय आती हो या इमारत का रखरखाव होता हो, हर जगह हिसाब और दस्तावेज़ ज़रूरी हैं। मक़सद पवित्र हो तो उससे प्रशासन की ज़िम्मेदारी कम नहीं होती। उलटे समाज का भरोसा उसे ज़्यादा ईमानदार प्रबंधन की माँग देता है।

वक्फ़ कानून की बहस को इसलिए दो हिस्सों में देखना उपयोगी है। एक ओर धार्मिक और सामुदायिक मक़सद का संरक्षण, दूसरी ओर संपत्ति का रिकॉर्ड, प्रबंधन और विवाद की निष्पक्ष प्रक्रिया। किसी कानून से कौन सा पक्ष बदला, यह उसकी धारा से पता चलेगा। सिर्फ़ सुधार या कब्ज़ा जैसे शब्द बोल देने से पूरा विवरण नहीं मिलता। इस अध्याय में 1995 की व्यवस्था, 2013 के संशोधन और 2025 के बदलाव क्रम से आएँगे। जहाँ अदालत ने अंतरिम आदेश दिया, उसका दायरा भी अलग बताया जाएगा। हमें समुदाय की चिंता को सुनना है, लेकिन किसी खास ज़मीन की पहचान अंदाज़े से नहीं करनी। संपत्ति का अधिकार और सार्वजनिक मक़सद दोनों तथ्य माँगते हैं। इसी बुनियाद से वक्फ़ की चर्चा उपयोगी और भरोसेमंद बन सकेगी। यह समझ विवाद और प्रबंधन में फ़र्क़ करना सिखाएगी।

वक्फ़ की वैधानिक कहानी 1995 से पहले भी चल रही थी। औपनिवेशिक दौर के कानून और आज़ादी के बाद 1954 की व्यवस्था उसके इतिहास में आते हैं। 1995 का वक्फ़ अधिनियम बाद में व्यापक प्रबंधन ढाँचे का आधार बना। इसलिए हर वक्फ़ संस्था को 1995 में पहली बार पैदा हुई व्यवस्था कहना गलत होगा। पुराने समर्पण और संस्थाएँ पहले से मौजूद हो सकती थीं; अधिनियम उनके नियमन का नया ढाँचा लेकर आया।

1995 का कानून पी. वी. नरसिम्हा राव के नेतृत्व वाली सरकार के दौर में बना। उसमें राज्य वक्फ़ बोर्ड, केंद्रीय वक्फ़ परिषद, सर्वेक्षण, पंजीकरण और विवादों के लिए अधिकरण, यानी ट्रिब्यूनल, जैसे हिस्से थे। इन संस्थाओं की भूमिका समान नहीं। परिषद की सलाह और निगरानी, बोर्ड का प्रबंधन संबंधी काम तथा अधिकरण की न्यायिक भूमिका अपनी अलग जगह रखते हैं। बोर्ड शब्द से सभी शक्तियाँ एक ही संस्था में नहीं रखी जा सकतीं।

राज्य स्तर का ढाँचा इसलिए अहम है कि संपत्ति का रिकॉर्ड, स्थानीय स्थिति और प्रबंधन का काम ज़मीन पर होता है। किसी शहर का कब्रिस्तान, दूसरे जिले की किराए वाली दुकानों और तीसरे इलाके की शिक्षण संस्था के तथ्य अलग होंगे। राष्ट्रीय कानून उनके लिए आधार दे सकता है, मगर हर संपत्ति की फाइल अलग पढ़नी होगी। कौन से राज्य में कौन सा बोर्ड और कौन सा आदेश संबंधित है, यह जानकारी ज़रूरी है।

पुराने रिकॉर्ड की कमज़ोरियों का असर लंबे समय तक रह सकता है। सीमाएँ साफ़ न हों, किराए की रसीदें न हों या संस्था का मूल समर्पण दस्तावेज़ खो गया हो तो विवाद बढ़ते हैं। लेकिन दस्तावेज़ की कमी और किसी दूसरे पक्ष के स्वामित्व का अंतिम सबूत एक ही बात नहीं। सुनवाई और सबूत की प्रक्रिया से नतीजा निकलेगा। यही नियम समुदाय के दावे और उसके खिलाफ दावे दोनों पर लागू होना चाहिए। अधिनियम का मक़सद समझते समय हमें ज़मीन की इस असल दुनिया को सामने रखना है। अच्छे प्रबंधन का दावा तभी मज़बूत होगा जब उसकी फाइल, आय और निर्णय जाँचे जा सकें। सिर्फ़ नाम बदलने या कार्यालय बनने से संपत्ति सुरक्षित होने का नतीजा अपने आप सिद्ध नहीं होता।

मुतवल्ली वक्त्र की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में अहम व्यक्ति होता है। संस्था का खर्च, किराया, रखरखाव और उपयोग उसके काम से जुड़ सकते हैं। लेकिन प्रबंध की ज़िम्मेदारी निजी स्वामित्व का अधिकार नहीं बन जाती। कोई परिवार कई पीढ़ियों से प्रबंधन करता आया हो तो भी संपत्ति का मक़सद और लागू कानून बाकी रहते हैं। विरासत में मिली ज़िम्मेदारी को विरासत में मिली निजी ज़मीन की तरह समझना ग़लत हो सकता है।

किसी वक्त्र की शर्तें उसके समर्पण दस्तावेज़ और लागू व्यवस्था से जानी जाएँगी। आय किस काम में लगेगी, कौन लाभ पाएगा और प्रबंधन कैसे चलेगा, इन बातों में मूल मक़सद का महत्व है। निजी सुविधा के लिए आय का इस्तेमाल करना या संपत्ति का रिकॉर्ड छिपाना भरोसे को चोट पहुँचाता है। समाज के सामने जवाबदेही सिर्फ़ सरकारी दबाव की चीज़ नहीं; वह अमानत सँभालने की ज़िम्मेदारी भी है।

हिसाब और ऑडिट इसी ज़िम्मेदारी से जुड़े हैं। दुकान का किराया कितना आया, मरम्मत पर कितना खर्च हुआ और सहायता किसे मिली, यह पता चलना चाहिए। आँकड़े सही हों और दस्तावेज़ उपलब्ध हों तो ग़लत आरोप का जवाब भी आसान होता है। यदि रिकॉर्ड ही न रखा जाए तो प्रबंधन भी अपना काम साबित करने में मुश्किल पाएगा। पारदर्शिता संस्था और उसके ज़िम्मेदार लोगों दोनों की रक्षा करती है।

लेकिन आरोप और सिद्ध अनियमितता में फ़र्क़ रहेगा। किसी विरोधी ने कहा कि प्रबंधक ने रकम खाई, तो उसे बिना जाँच तथ्य नहीं लिखेंगे। संबंधित दस्तावेज़, जवाब और सक्षम प्रक्रिया देखनी होगी। उसी तरह अमानत का नाम लेकर हर सवाल बंद कर देना भी उचित नहीं। समाज को हिसाब पूछने की नैतिक ज़रूरत है और कानून अपनी प्रक्रिया देता है। यह अध्याय दोनों को साथ रखता है। वक्त्र की रक्षा का मतलब सिर्फ़ बाहरी दावे का विरोध करना नहीं, अंदर की ज़िम्मेदारी निभाना भी है। यदि संपत्ति का लाभ उसके मक़सद तक नहीं पहुँचता तो समुदाय को खुद भी पूछना चाहिए कि रुकावट कहाँ है। यह सवाल संस्था को कमज़ोर करने के लिए नहीं, उसके असल काम को मज़बूत करने के लिए उठता है। अमानत का सम्मान ज़िम्मेदारी निभाने से बढ़ेगा।

वक्फ़ संपत्ति के विवाद में अहम सवाल अक्सर पहचान का होता है। कौन सी ज़मीन समर्पित हुई थी, उसकी सीमा क्या थी और आज रिकॉर्ड में किस नाम से दर्ज है? पुराना नक्शा, वक्फ़नामा, राजस्व दस्तावेज़ और संस्था का उपयोग इतिहास अलग सबूत हो सकते हैं। इन सबको देखे बिना किसी ज़मीन पर अंतिम दावा लिख देना उचित नहीं। भावना अपनी जगह पर है, मालिकाना हक़ की जाँच अपनी जगह पर।

सर्वेक्षण और पंजीकरण इसीलिए महत्व रखते हैं। कानून ने संस्था और संपत्ति की जानकारी दर्ज करने की व्यवस्था दी। लेकिन किसी सूची में नाम होने, किसी आवेदन के लंबित होने और अंतिम विवादित स्वामित्व के तय होने में फ़र्क़ हो सकता है। संबंधित अधिनियम, आदेश और चुनौती की स्थिति पढ़नी होगी। एक ऑनलाइन प्रविष्टि को हर परिस्थिति में अंतिम न्यायिक निर्णय मान लेना गलत है।

दूसरे पक्ष का दावा भी सुनवाई माँगता है। किसी व्यक्ति की निजी ज़मीन को वक्फ़ बताया गया हो तो उसे कानून के अनुसार अपना पक्ष रखने की जगह मिलनी चाहिए। वहीं पुरानी वक्फ़ ज़मीन पर किसी का कब्ज़ा हो तो सिर्फ़ लंबे कब्ज़े से हर सवाल ख़त्म नहीं होगा। कौन सा नियम लागू है, उसकी शर्तें और सबूत क्या हैं, यह देखा जाएगा। निष्पक्ष प्रक्रिया दोनों प्रकार की अन्यायपूर्ण स्थिति से बचाने के लिए ज़रूरी है।

यहाँ स्थानीय काम उपयोगी हो सकता है। संस्था अपने दस्तावेज़ व्यवस्थित करे, सीमा का साफ़ विवरण रखे और प्रमाणित प्रतियाँ सुरक्षित रखे। लेकिन पुराने कागज़ में अपनी तरफ़ से बदलाव करना या विवादित सीमा को तथ्य बताकर प्रचार करना समस्या बढ़ाएगा। रिकॉर्ड की कमी का हल नया झूठा रिकॉर्ड नहीं हो सकता। सही जानकारी और कानूनसम्मत सुधार का रास्ता ही भरोसेमंद है। इस पुस्तक में किसी राज्य या जिले की संपत्ति की संख्या लिखी जाएगी तो उसका स्रोत तथा तारीख़ साथ चाहिए। एक साल के आँकड़े को हमेशा का कुल मान लेने से भ्रम पैदा होता है। वक्फ़ की ताकत उसके नाम की बड़ी गिनती से नहीं, मक़सद तक पहुँचती आय और सुरक्षित संपत्ति से भी जानी जाएगी। कानून की चर्चा में ज़मीन का सच बना रहना चाहिए।

2013 में वक्त्र अधिनियम में संशोधन हुए। यह मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली सरकार के दौर का बदलाव था। संपत्ति के संरक्षण, प्रबंधन, अधिकरण और नियमन से जुड़े कई हिस्से बदले। इसलिए 1995 के शुरुआती पाठ और 2013 के बाद लागू पाठ को बिना तुलना पढ़ना उचित नहीं। किसी धारा की चर्चा में यह देखना होगा कि उस समय उसकी भाषा क्या थी।

संशोधन के बाद संपत्ति हस्तांतरण और पट्टे जैसे सवालियों पर ज़्यादा साफ़ या कठोर नियंत्रण की व्यवस्था सामने आई। अधिकरण की बनावट और विवादों के रास्ते में भी बदलाव हुए। मगर हर संशोधन को सिर्फ़ शक्ति बढ़ी या शक्ति घटी के दो शब्दों में नहीं बताया जा सकता। किस संस्था की कौन सी शक्ति बदली, और उसके साथ किस प्रकार की सीमा लगी, यह धारा के अनुसार समझना होगा।

2013 में धारा 108A के रूप में अधिनियम को दूसरे कानूनों पर प्राथमिकता देने की व्यवस्था आई। 2025 में उसे हटाए जाने का सवाल आगे उठा। यह मिसाल दिखाती है कि बाद के संशोधन को पढ़ते समय 1995 और 2013, दोनों पाठ साथ चाहिए। किसी धारा का हटना हमेशा यह नहीं होता कि वह 1995 से मौजूद थी। उसका अपना कानूनी आरंभ और अंत हो सकता है।

सरकारों का काम इसी तरह तथ्य के साथ लिखा जाएगा। किस दौर में संसद ने संरक्षण का कौन सा साधन दिया और बाद में किस साधन को बदला, यह साफ़ जानकारी है। लेकिन कानून बन जाने से हर कब्ज़ा हट गया या सारी आय सही जगह पहुँच गई, ऐसा नतीजा बिना सबूत नहीं लिखेंगे। नीयत का दावा, कानूनी व्यवस्था और ज़मीन का असल असर तीन बातें हैं। समुदाय के लिए सबसे उपयोगी चर्चा वह होगी जो इन तीनों के बीच संबंध दिखाए। पुराने कानून की कमज़ोरी बताई जाए तो उसके उदाहरण और रिकॉर्ड हों। सुधार का लाभ बताया जाए तो उसका सबूत हो। इस तरह वक्त्र की बहस किसी सरकार के पक्ष या विरोध का नारा बनकर नहीं रह जाती। वह संपत्ति, ज़िम्मेदारी और हक़ की कहानी बनती है, जिसे पाठक अपनी स्थानीय संस्था की स्थिति से भी जोड़ सकता है।

2025 का वक्फ़ संशोधन नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली सरकार के दौर में आया। 5 अप्रैल 2025 को राष्ट्रपति की मंजूरी के बाद अधिनियम संख्या 14 के रूप में वह प्रकाशित हुआ। इसके द्वारा 1995 के अधिनियम का नाम भी बदला गया। संशोधन के बाद इसका अंग्रेज़ी नाम The Unified Waqf Management, Empowerment, Efficiency and Development Act, 1995 हुआ। इसके संक्षिप्त नाम UMEED को आम चर्चा में “उम्मीद” कहा जाता है। लेकिन नाम का परिवर्तन अकेले असल कानूनी असर नहीं बताता।

बदलाव कई मामलों में थे। वक्फ़ की परिभाषा, समर्पण करने वाले की पात्रता, उपयोग के आधार पर वक्फ़ की पहचान, सरकारी संपत्ति से विवाद, बोर्ड की बनावट तथा पंजीकरण और न्यायिक रास्तों पर नई व्यवस्था आई। एक छोटा सार इन सभी धाराओं का पूरा विकल्प नहीं हो सकता। इसलिए हम मुख्य मुद्दों को अलग पन्नों पर समझ रहे हैं। पाठक किसी एक बदलाव को पूरा अधिनियम न समझे।

इसी दौर में 1923 के पुराने मुसलमान वक्फ़ अधिनियम का खात्मा अलग अधिनियम से हुआ। दोनों विधायी काम संबंधित इतिहास रखते हैं, लेकिन एक ही अधिनियम नहीं हैं। 1995 की व्यवस्था में संशोधन और 1923 के कानून का खात्मा अलग लिखना चाहिए। इससे संसद के रिकॉर्ड की सही पहचान रहती है और स्रोत की तलाश करते समय भ्रम कम होता है।

सरकार ने बदलावों के लिए प्रबंधन और पारदर्शिता की ज़रूरत बताई। विरोध करने वालों ने धार्मिक आज़ादी, समुदाय की भूमिका और संपत्ति के अधिकार से जुड़े सवाल उठाए। इन दावों को उनके पक्ष के रूप में रखा जाएगा। संवैधानिक चुनौती होने से कानून अपने आप रद्द नहीं होता; संसद से पारित होने से हर संवैधानिक सवाल हमेशा के लिए खत्म भी नहीं हो जाता। अदालत का परीक्षण अपनी प्रक्रिया से चलता है। आगे सितंबर 2025 के आदेश की चर्चा में यही फ़र्क़ निर्णायक है। पहले हम यह देखेंगे कि अधिनियम की नई भाषा क्या कहती है, फिर अदालत ने उसके किन हिस्सों पर अंतरिम हस्तक्षेप किया। ऐसा करने से पाठक मूल कानून और न्यायिक रोक को अलग पहचान सकेगा। विवाद की गर्मी में यही स्पष्टता सबसे ज़्यादा ज़रूरी हो जाती है। यही इस चर्चा की शुरुआती बुनियाद है।

2025 के संशोधन में वक्रफ़ बनाने वाले की पात्रता से जुड़े शब्द अहम बने। संपत्ति का वैध मालिक होना और उसे समर्पित करने में सक्षम होना मूल सवाल भी हैं। कोई व्यक्ति दूसरे की ज़मीन सिर्फ़ घोषणा से वक्रफ़ बना दे, तो उससे स्वामित्व का विवाद खत्म नहीं हो सकता। वक्रफ़ की मान्यता निजी या सरकारी संपत्ति के असल हक़ को बिना प्रक्रिया मिटाने की अनुमति नहीं है।

नई परिभाषा में कम से कम पाँच वर्ष से इस्लाम का पालन दिखाने या साबित करने की शर्त भी आई। इस पर अदालत में सवाल उठा कि ऐसी मज़हबी स्थिति की जाँच कैसे होगी। सितंबर 2025 के अंतरिम आदेश ने इस हिस्से के संचालन पर राज्य द्वारा उपयुक्त नियम बनाए जाने तक रोक रखी। इसलिए मूल अधिनियम की भाषा और उस आदेश के बाद उसकी प्रभावशीलता अलग पढ़नी होगी। इसका आधार सुप्रीम कोर्ट का 15 सितंबर 2025 का अंतरिम आदेश है; संदर्भ: 2025 INSC 1116, पैरा 209।

यह उदाहरण कानून की खबर पढ़ने का तरीका सिखाता है। संशोधन में शर्त आई, यह एक तथ्य है। अदालत ने उस शर्त के हिस्से पर अंतरिम रोक लगाई, यह दूसरा। अदालत ने पूरे वक्रफ़ कानून को अंतिम रूप से असंवैधानिक घोषित कर दिया, यह उसी से नहीं निकलता। आदेश का दायरा जितना है उतना ही बताया जाएगा। आगे कोई नियम या आदेश उसकी स्थिति बदले तो उसकी तारीख़ भी ज़रूरी होगी।

समर्पण के समय संपत्ति का विवरण और वैध स्वामित्व इसलिए अहम हैं। मालिक कौन है, ज़मीन विवादित है या नहीं और किसी अन्य व्यक्ति का हिस्सा उसमें है या नहीं, ये सवाल पहले ही उठ सकते हैं। धार्मिक मक़सद अच्छा होने से कागज़ की ज़रूरत खत्म नहीं होती। वहीं दस्तावेज़ की प्रक्रिया को इतना मुश्किल कर देना कि असल समर्पण की राह ही रुक जाए, वह अलग नीति सवाल है। हम उसे भी ठोस प्रावधान से समझेंगे। किताब किसी समुदाय की श्रद्धा नापने का काम नहीं करती। वह यह पूछती है कि कानून में बनाई गई शर्त किसके अधिकार को प्रभावित करती है और उसे लागू करने की निष्पक्ष व्यवस्था क्या है। इसी सवाल से व्यक्तिगत मज़हबी पहचान और संपत्ति समर्पण की कानूनी प्रक्रिया के बीच का संबंध समझा जा सकता है।

पुरानी वक्फ संपत्ति की पहचान में उपयोग का इतिहास कभी अहम रहा है। कोई जगह लंबे समय से कब्रिस्तान या धार्मिक उपयोग में हो और समर्पण का मूल दस्तावेज़ न मिले, तो मामला नया कागज़ बनाने का नहीं रहता। वक्फ बाय यूज़र, यानी पुराने उपयोग से पहचान इसी क्षेत्र से जुड़ती थी। 2025 के संशोधन ने इस विषय की व्यवस्था में बदलाव किया, इसलिए पुरानी और नई स्थिति पढ़नी पड़ती है।

संशोधित कानून ने नए वक्फ की पहचान में उपयोग वाले पुराने आधार को हटाया, जबकि पहले से पंजीकृत ऐसे वक्फ के लिए शर्तों सहित संरक्षण की भाषा रखी। विवादित या सरकारी संपत्ति से जुड़े अपवाद भी महत्व रखते हैं। इसलिए सभी पुराने कब्रिस्तान खत्म हो गए, या कोई भी पुराना उपयोग अब हर परिस्थिति में पर्याप्त है, दोनों आम कथन सही विवरण नहीं देते। संपत्ति की विशेष स्थिति देखनी होगी।

यहाँ पंजीकरण की तारीख और विवाद का स्वरूप अहम हो सकता है। क्या संपत्ति पहले से दर्ज थी, कौन सा दावा सामने है और संबंधित अदालत में क्या कार्यवाही हुई है? इन सवालों के जवाब रिकॉर्ड से मिलेंगे। किसी फोटो में पुरानी कब्र दिखाई देने या किसी सूची में नाम होने से हर विवाद का न्यायिक नतीजा नहीं बताया जा सकता। प्रमाणों को साथ पढ़ने की ज़रूरत है।

समुदाय की चिंता इस विषय में समझने लायक है। पुरानी संस्थाओं के कागज़ समय के साथ खो सकते हैं और गरीब इलाकों में व्यवस्थित रिकॉर्ड कम मिल सकता है। लेकिन दूसरे पक्ष की ज़मीन या सरकारी संपत्ति के बारे में भी निष्पक्ष प्रक्रिया ज़रूरी है। इंसान तभी होगा जब दस्तावेज़ की कमी, ऐतिहासिक उपयोग और स्वामित्व का परीक्षण सुनवाई के साथ हो। इस पुस्तक में पुराने धार्मिक उपयोग को सम्मान के साथ देखा जाएगा, पर हर दावे को सबूत के बिना सही घोषित नहीं किया जाएगा। संस्था अपने उपलब्ध रिकॉर्ड, पुराने नक्शे और प्रमाणित दस्तावेज़ व्यवस्थित करे तो उसकी स्थिति साफ़ करने में मदद मिलेगी। कानून की चर्चा का अमली लाभ यही है कि चिंता सिर्फ़ भाषण में न रहे, बल्कि तथ्य और उचित प्रक्रिया तक पहुँचने का काम शुरू हो।

सरकारी संपत्ति और वक्रफ़ के दावे का विवाद 2025 के संशोधन का एक गंभीर हिस्सा बना। नई धारा 3C में ऐसी संपत्ति की जाँच और रिकॉर्ड संबंधी व्यवस्था आई। सवाल यह उठा कि राज्य के अधिकारी की जाँच के आधार पर विवादित स्वामित्व और रिकॉर्ड पर कितना असर पड़ सकता है। स्वामित्व का फैसला और प्रशासनिक रिपोर्ट एक ही चीज़ नहीं हैं। इसी फ़र्क़ पर अदालत का ध्यान गया।

15 सितंबर 2025 के अंतरिम आदेश ने धारा 3C के कुछ हिस्सों पर रोक लगाई। आदेश में संबंधित स्वामित्व सवाल अधिकरण और आगे हाईकोर्ट की न्यायिक प्रक्रिया से तय होने तक बेदखली तथा रिकॉर्ड बदलने के विरुद्ध संरक्षण दिया गया। साथ ही जाँच के दौरान संबंधित संपत्ति में तीसरे पक्ष के अधिकार बनाने पर भी रोक की व्यवस्था रखी गई। यह संतुलन दोनों ओर की स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए था। इसका आधार सुप्रीम कोर्ट का 15 सितंबर 2025 का अंतरिम आदेश है; संदर्भ: 2025 INSC 1116, पैरा 209।

इसका मतलब न सरकार की हर संपत्ति वक्रफ़ हो जाना है, न हर वक्रफ़ दावा अंतिम रूप से मान लिया जाना। अदालत ने विवाद के अंतिम निर्धारण तक प्रक्रिया और स्थिति के संरक्षण की बात की। संरक्षण को स्वामित्व सबूत समझना गलत होगा। कोई ज़मीन किसकी है, यह सबूत और सक्षम न्यायिक निर्णय से सामने आएगा। आदेश की सीमित प्रकृति इसी वजह से अहम है।

पाठक को इस बात से कानून का एक बड़ा उसूल समझना चाहिए। जब स्वामित्व विवादित हो तो निर्णय से पहले नतीजा लागू कर देना किसी पक्ष को ऐसा नुकसान पहुँचा सकता है जिसे बाद में ठीक करना मुश्किल हो। इसलिए अंतरिम आदेश कभी स्थिति बचाते हैं। लेकिन वे मुक़दमे का अंतिम जवाब नहीं होते। इस अध्याय में सितंबर 2025 के आदेश को उस तारीख और उस दायरे में पढ़ा गया है। किसी मौजूदा संपत्ति की कार्यवाही समझने के लिए उसके बाद के आदेश तथा स्थानीय फाइल देखनी होगी। हम पुरानी स्थिति को आज का नतीजा नहीं बनाएँगे। वक्रफ़ के प्रति सम्मान और सरकारी संपत्ति की सुरक्षा दोनों की चर्चा में सुनवाई केंद्रीय रहेगी। यही तरीका कमज़ोर दस्तावेज़ वाले समुदाय और गलत दावे से प्रभावित दूसरे व्यक्ति दोनों के लिए इंसाफ़ का रास्ता बचाता है।

वक्फ़ बोर्ड की बनावट पर 2025 में आए बदलावों ने प्रतिनिधित्व का सवाल उठाया। किसे सदस्य बनाया जाएगा, कौन नियुक्त करेगा और समुदाय की भूमिका कितनी रहेगी? धार्मिक मक़सद वाली संपत्ति के प्रबंधन में ये अहम सवाल हैं। लेकिन बोर्ड की बनावट, मुख्य कार्यकारी अधिकारी और अदालत की भूमिकाएँ अलग हैं। किसी एक पद के बारे में बदलाव से संस्था का स्वामित्व दूसरे समुदाय को मिल गया, ऐसा दावा उचित नहीं।

सितंबर 2025 के अंतरिम आदेश में केंद्रीय परिषद और राज्य बोर्ड में गैरमुस्लिम सदस्यों की संख्या पर निर्देश दिए गए। परिषद में बाईस में से चार और बोर्ड में ग्यारह में से तीन से ज़्यादा नहीं रखने की सीमा बताई गई। मुख्य कार्यकारी अधिकारी की नियुक्ति में जहाँ तक संभव हो मुस्लिम समुदाय से व्यक्ति चुनने का प्रयास करने की बात रही। इन्हें अधिनियम की मूल भाषा और न्यायिक निर्देश में फ़र्क़ रखते हुए पढ़ना चाहिए। इसका आधार सुप्रीम कोर्ट का 15 सितंबर 2025 का अंतरिम आदेश है; संदर्भ: 2025 INSC 1116, पैरा 209।

अदालत ने पूरे संशोधन पर रोक नहीं लगाई। उसका आदेश कुछ विषयों में सीमित संरक्षण और निर्देश देता है। उसमें की गई पहली नज़र की टिप्पणियाँ अंतिम संवैधानिक फैसला नहीं हैं। इसलिए अदालत ने नई व्यवस्थाएँ हमेशा के लिए सही ठहरा दीं, या पूरा अधिनियम रद्द कर दिया, दोनों कथन गलत होंगे। आदेश खुद अपने मक़सद को साफ़ करता है।

प्रतिनिधित्व के साथ काम की जवाबदेही भी रहती है। कौन सदस्य है, उसके अलावा यह देखना होगा कि बैठक हुई या नहीं, आय का हिसाब सही है या नहीं और संपत्ति का मक़सद पूरा हो रहा है या नहीं। समुदाय के सदस्य होने से हर निर्णय अपने आप सही नहीं हो जाता। बाहरी निगरानी का नाम लेने से हर व्यवस्था उपयोगी भी नहीं बन जाती। काम और कानूनी सीमा दोनों परखने होंगे। वक्फ़ की चर्चा में हमें पहचान और संस्थागत ज़िम्मेदारी दोनों सामने रखनी चाहिए। तभी पाठक समझ सकेगा कि किस बदलाव की चिंता प्रतिनिधित्व की है, किसकी चिंता संपत्ति की और किसकी चिंता न्यायिक प्रक्रिया की। इन सवालों को मिला देने से विरोध और समर्थन दोनों अस्पष्ट हो जाते हैं। ब्योरे से संस्था और समाज के भविष्य पर बात हो सकती है।

वक्फ़ की इस चर्चा से अब बात सामने है: अमानत की रक्षा किसी कानून के पक्ष या विरोध में खड़े होने से पूरी नहीं होती। संपत्ति का रिकॉर्ड, ईमानदार प्रबंधन, मक़सद तक पहुँचती आय और न्यायिक सुनवाई ज़रूरी हैं। 1995, 2013 और 2025 की व्यवस्थाओं के बीच बदलाव समझने से पता चलता है कि कानून समय के साथ प्रशासन, अधिकार और विवाद की प्रक्रिया को नया रूप देता रहा।

किसी संस्था के लिए पहला काम अपने कागज़ व्यवस्थित करना है। वक्फ़नामा, पंजीकरण, ज़मीन की सीमा, किराए का हिसाब और न्यायिक आदेश अलग सुरक्षित हों। जानकारी और मूल रिकॉर्ड में अंतर मिले तो कानूनसम्मत सुधार का रास्ता देखा जाए। किसी विवाद में सिर्फ़ प्रचार का सहारा लेकर दस्तावेज़ छोड़ देना संस्था को कमज़ोर कर सकता है। वहीं प्रशासन को भी सुनवाई और कानून की सीमा का पालन करना चाहिए।

आय और उपयोग का सवाल उतना ही अहम है। गरीब बच्चों की तालीम के लिए समर्पित संपत्ति हो तो उसका लाभ वहाँ पहुँच रहा है या नहीं? धार्मिक संस्था के खर्च के लिए आय हो तो उसका हिसाब क्या है? इन सवालों का जवाब रिकॉर्ड से आएगा। देश की कुल वक्फ़ संपत्ति की संख्या बोल देने से किसी इलाके के ज़रूरतमंद परिवार को मिलने वाला लाभ नहीं पता चलता। मक़सद की पूर्ति ज़मीन पर देखनी होगी।

सितंबर 2025 का न्यायिक आदेश इस अध्याय में अंतरिम पड़ाव के रूप में रखा गया है। बाद की किसी कार्यवाही को पढ़ते समय नया आदेश साथ देखना ज़रूरी होगा। कानून का मूल पाठ, लागू रोक और संपत्ति की अपनी फाइल तीनों अलग जानकारी रखते हैं। अब अगले अध्याय में हम नागरिकता की तरफ़ जाएँगे। वहाँ ज़मीन की पहचान से आगे व्यक्ति की देश में कानूनी सदस्यता का सवाल होगा। जन्म, वंश, पंजीकरण और देशीयकरण के रास्ते समझेंगे, फिर संशोधनों का असर देखेंगे। नागरिकता की चर्चा में भी डर या आश्वासन को मूल धारा की जगह नहीं देंगे। व्यक्ति का हक़ तभी साफ़ होता है जब नियम, तारीख़ और प्रक्रिया साफ़ हों। वक्फ़ की तरह वहाँ भी कानून के नाम से ज़्यादा उसकी असल भाषा अहम होगी।

अध्याय 12 – नागरिकता कानून और उसके संशोधन

नागरिकता का सवाल इंसान के देश से कानूनी रिश्ते का सवाल है। मुसलमानों के बारे में बात करते समय इसे सिर्फ़ मज़हबी पहचान का दूसरा नाम नहीं बनाया जा सकता। कोई व्यक्ति हिंदुस्तान का नागरिक है या नागरिकता प्राप्त करने का आवेदन कर रहा है, दोनों की स्थिति अलग है। पहले से मौजूद सदस्यता और नई सदस्यता की पात्रता को मिला देने से गलतफहमी पैदा होती है। इस अध्याय की शुरुआत उसी फ़र्क़ से होगी।

संविधान के अनुच्छेद 5 से 11 आरंभिक नागरिकता और उससे संबंधित व्यवस्था रखते हैं। इनमें संविधान लागू होने के समय की स्थिति, विभाजन के दौर में आवागमन और दूसरे विषय आते हैं। उस समय का इतिहास विस्थापन और अनिश्चितता से भरा था। इसलिए इन अनुच्छेदों को आज पैदा हुए हर व्यक्ति की आम नागरिकता के नियम की तरह पढ़ना गलत होगा। आरंभिक संवैधानिक व्यवस्था और बाद का अधिनियम अलग भूमिका रखते हैं।

अनुच्छेद 11 संसद की नागरिकता पर कानून बनाने की शक्ति को सुरक्षित रखता है। उसी कानूनी क्षेत्र में 1955 का नागरिकता अधिनियम आता है। वह नागरिकता प्राप्त करने, उसे तय करने और समाप्ति संबंधी व्यवस्थाओं का मुख्य कानून बना। संविधान की शक्ति और संसद के अधिनियम का रिश्ता समझने से आगे के संशोधनों की जगह साफ़ होती है। कोई संशोधन नागरिकता अधिनियम में हो तो उसे बिना कारण संविधान संशोधन नहीं कहेंगे।

मुस्लिम नागरिक की हैसियत किसी सार्वजनिक बहस के शोर से अपने आप नहीं बदल जाती। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं कि नागरिकता संबंधी हर सवाल में दस्तावेज़ और प्रक्रिया की ज़रूरत कभी नहीं होगी। किसी विशेष कार्यवाही का आधार जानना पड़ेगा। हमें पाठक को न अनुमान से डराना है, न ऐसी बिना शर्त तसल्ली देना है जो कानून से बड़ी हो। जानकारी उसके अपने मामले की समझ मज़बूत करेगी। आगे जन्म, वंश और आवेदन की व्यवस्थाओं को क्रम से पढ़ेंगे। तब नागरिक और निवासी, विदेशी और आवेदक के बीच का फ़र्क़ भी साफ़ होगा। इन्हीं अलग हैसियतों को पहचानकर कोई व्यक्ति अपने अधिकार का आधार समझ सकता है और उसके बारे में कही जाने वाली बातों को परख सकता है।

1955 के नागरिकता अधिनियम में नागरिकता प्राप्त करने की राहें हैं। जन्म, वंश, पंजीकरण, देशीयकरण और क्षेत्र के भारत में सम्मिलित होने से जुड़ी व्यवस्था उनमें आती है। हर राह की शर्तें हैं। किसी व्यक्ति के माता-पिता भारतीय हों, किसी का जन्म भारत में हुआ हो और कोई विदेश से आकर आवेदन करे, तो इन तीनों को एक ही फॉर्म और एक ही कसौटी से नहीं समझा जा सकता।

जन्म की धारा में जन्म की तारीख और माता-पिता की स्थिति अहम हो सकती है। वंश की व्यवस्था में विदेश में जन्म तथा संबंधित पंजीकरण जैसे सवाल उठते हैं। पंजीकरण और देशीयकरण में निवास, पात्र श्रेणी तथा दूसरी शर्तें देखी जाती हैं। इसलिए सिर्फ वर्षों से यहाँ रहता हूँ, ऐसा कथन हर स्थिति में नागरिकता का सबूत नहीं है। वहीं किसी दस्तावेज़ की कमी से हर व्यक्ति विदेशी भी नहीं हो जाता।

देशीयकरण को आसान ज़बान में ऐसे कानूनी रास्ते के रूप में समझ सकते हैं जिसमें तय पात्रता पूरी करने वाला विदेशी नागरिकता प्राप्त करता है। निवास की अवधि उसकी शर्तों में आती है, लेकिन वह अकेली शर्त नहीं। पंजीकरण का रास्ता भी तय श्रेणियों के लिए है। आवेदन, जाँच और सक्षम प्राधिकारी की भूमिका का महत्व रहता है। पात्र होने का दावा और नागरिकता मिलने का अंतिम नतीजा अलग होंगे।

मुस्लिम आवेदक की स्थिति देखते समय इस व्यवस्था को गायब नहीं किया जा सकता। आगे 2019 के विशेष संशोधन में कुछ धर्म और देश बताए गए हैं, मगर उससे आम कानून की सारी राहें हर व्यक्ति के लिए खत्म हो गईं, ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता। कौन सा रास्ता उपलब्ध है, यह उसकी पात्रता से तय होगा। किताब की ज़िम्मेदारी इन अलग राहों को साफ़ रखना है। नागरिकता का ज्ञान तभी उपयोगी है जब पाठक समझे कि उसके मामले का सवाल कौन सा है। किसी परिवार में नागरिकता जन्म से हो सकती है और उसी परिवार के दूसरे सदस्य को अलग आवेदन की ज़रूरत हो सकती है। रिश्तेदारी अहम तथ्य है, पर हर सदस्य की स्थिति अपने आधार पर देखनी पड़ती है। इसी वजह से नियमों की पढ़ाई ज़रूरी है।

भारत में जन्म से नागरिकता की व्यवस्था समय के साथ बदली है। धारा 3 पढ़ते समय तीन तारीखी दौर सामने आते हैं। 26 जनवरी 1950 से 1 जुलाई 1987 के पहले तक जन्म की आम व्यवस्था ज़्यादा व्यापक थी। 1 जुलाई 1987 से 3 दिसंबर 2004 के पहले तक जन्म के समय माता-पिता में से किसी एक का भारतीय नागरिक होना अहम शर्त बना। बाद के दौर में माता-पिता की नागरिकता और अवैध प्रवासी की स्थिति से जुड़ी अतिरिक्त कसौटी आई।

3 दिसंबर 2004 या उसके बाद जन्म के लिए नियम में दोनों माता-पिता भारतीय नागरिक हों, या एक भारतीय हो और दूसरा अवैध प्रवासी न हो, यह स्थिति देखी जाती है। इन नियमों के साथ अधिनियम के विशेष अपवाद भी हैं। इसलिए तारीखों का यह सार हर असाधारण स्थिति का पूरा निर्णय नहीं है। लेकिन इससे समझ आता है कि जन्मस्थान बताना हर मामले में अकेला जवाब नहीं हो सकता।

इस धारा की आम भाषा धर्म के नाम पर अलग जन्म नियम नहीं बनाती। मुस्लिम बच्चे का मामला भी उसकी जन्मतिथि और संबंधित शर्तों से देखा जाएगा। किसी व्यक्ति का नाम या पहनावा इन तथ्यों की जगह नहीं ले सकता। परिवार की कानूनी स्थिति समझने के लिए जन्म के सबूत और, जहाँ ज़रूरी हो, माता-पिता की स्थिति की जानकारी की ज़रूरत हो सकती है। सवाल का जवाब दस्तावेज़ और लागू नियम से आएगा।

यह जानकारी डर बढ़ाने के लिए नहीं, नियम साफ़ करने के लिए है। कई लोग एक घर में अलग पीढ़ियों के लिए समान कसौटी मान लेते हैं। लेकिन पिता, बेटी और पोती की जन्मतिथियाँ अलग कानूनी दौर में पड़ सकती हैं। इसलिए हर सदस्य के लिए लागू धारा पढ़नी होगी। पुरानी याद या घरेलू बयान सहायक हो सकता है, पर उसकी कानूनी जगह सबूत की प्रक्रिया तय करेगी। यदि दस्तावेज़ में गलती है तो रिकॉर्ड के आधार पर सुधार का रास्ता देखा जाए। बिना तथ्य किसी को नागरिकता से बाहर बताना नाइंसाफी है। उसी तरह गलत जानकारी देकर उसे तैयार होने से रोकना भी उचित नहीं। नियम और सम्मानजनक प्रक्रिया दोनों नागरिक की सुरक्षा के लिए ज़रूरी हैं।

नागरिकता कानून में बदलाव को किसी एक सरकार की अकेली घटना मान लेना पूरी तारीख नहीं बताता। 1986 के संशोधन ने जन्म से नागरिकता की शर्तों को बदला। 2003 के नाम वाला संशोधन अधिनियम संख्या 6, 2004 के रूप में प्रकाशित हुआ और कई अहम व्यवस्थाएँ लेकर आया। इसलिए अधिनियम के नाम का वर्ष, प्रकाशन और अलग प्रावधानों के लागू होने की तारीख हमेशा एक ही नहीं होती। यह फ़र्क़ कानून की कहानी में दर्ज रहना चाहिए।

2003 के बदलाव में अवैध प्रवासी की परिभाषा तथा नागरिकों के राष्ट्रीय पंजीकरण से संबंधित धारा 14A जैसे विषय अहम हैं। अवैध प्रवासी की कानूनी पहचान सिर्फ़ किसी व्यक्ति का विदेशी जैसा दिखना नहीं है। प्रवेश के वैध दस्तावेज़ और अनुमत अवधि से संबंधित नियम आते हैं। किसी की बोली या मज़हब देखकर उसके लिए यह हैसियत तय नहीं की जा सकती। कानून की परिभाषा और सबूत ज़रूरी हैं।

इसी तरह नागरिकों का पंजीकरण और आम निवासियों की जानकारी अलग विषय हैं, हालांकि नियमों में उनका संबंध हो सकता है। कोई अधिकार कानून में दिया गया हो तो उसका असल इस्तेमाल संबंधित नियम, अधिसूचना और प्रक्रिया से समझा जाएगा। सिर्फ़ धारा मौजूद होने से हर जगह एक जैसी कार्यवाही उसी दिन शुरू हो गई, ऐसा निष्कर्ष नहीं निकालेंगे। कानून की शक्ति और उसे लागू करने की खास घटना अलग हैं।

मुस्लिम समाज में नागरिकता की बहस लंबे अनुभव और आशंकाओं से जुड़ती है। उन आशंकाओं को सुनना ज़रूरी है, लेकिन सही जानकारी के बिना उनका हल नहीं होगा। किसी पुराने संशोधन का वर्ष गलत बताना या उसे नए अधिनियम का हिस्सा बना देना पाठक को भ्रमित करेगा। हम हर बदलाव का स्रोत और दायरा अलग रख रहे हैं। इससे यह भी साफ़ होगा कि 2019 का संशोधन पहले से मौजूद किस व्यवस्था में विशेष बदलाव जोड़ता है। उसकी चर्चा आगे आएगी। सरकारों के नाम से ज़्यादा अहम यह है कि धारा की भाषा किस तरह बदली और व्यक्ति की पात्रता पर उसका क्या असर पड़ा। यही तथ्य नागरिक को राजनीतिक बयान और असल कानूनी नियम के बीच फ़र्क़ करने में मदद देता है।

2019 का नागरिकता संशोधन अधिनियम खास देशों और समुदायों के लिए विशेष व्यवस्था लेकर आया। इसमें अफगानिस्तान, बांग्लादेश और पाकिस्तान से आए हिंदू, सिख, बौद्ध, जैन, पारसी और ईसाई समुदाय के व्यक्तियों का ज़िक्र है। 31 दिसंबर 2014 तक भारत में प्रवेश और संबंधित सरकारी छूट जैसी शर्तें भी अहम हैं। इसलिए किसी धर्म का नाम सूची में होने से दुनिया के हर देश से आया व्यक्ति उसी विशेष व्यवस्था का पात्र नहीं बन जाता।

अधिनियम ने संबंधित पात्र व्यक्तियों को अवैध प्रवासी की परिभाषा से बाहर रखने का प्रावधान जोड़ा और धारा 6B के माध्यम से पंजीकरण अथवा देशीयकरण की विशेष राह दी। तीसरी अनुसूची में संबंधित श्रेणी के लिए निवास की एक कसौटी ग्यारह वर्ष की जगह पर पाँच वर्ष की गई। लेकिन नागरिकता अपने आप मिल जाने की बात नहीं है। पात्रता, आवेदन और सक्षम प्राधिकारी की प्रक्रिया रहती है।

इस सूची में मुसलमान शामिल नहीं हैं। यही बहस का अहम सवाल बना। सरकार ने तीन देशों के धार्मिक अल्पसंख्यकों के संरक्षण की ज़रूरत बताई। विरोध करने वालों ने धर्म आधारित चयन, बराबरी और अन्य उत्पीड़ित समूहों की स्थिति पर सवाल उठाए। पुस्तक में सरकारी पक्ष और आलोचना दोनों को उनकी दलील के रूप में रखा जाएगा। किसी दलील को अदालत का अंतिम निर्णय कह देना सही नहीं।

यह कानून नरेंद्र मोदी सरकार के दौर में बना और 12 दिसंबर 2019 को राष्ट्रपति की मंजूरी मिली। उसका इतिहास बताने के बाद हम पाठक को मूल दायरा समझाएँगे। किसे विशेष लाभ दिया गया, किसे उस सूची में जगह नहीं मिली और आम नागरिकता व्यवस्था किस तरह अलग रहती है, ये तीन सवाल हैं। इन्हें मिला देने से डर और आश्वासन दोनों गलत रूप ले सकते हैं। भारतीय मुस्लिम नागरिक तथा विदेश से नागरिकता माँगने वाला मुस्लिम व्यक्ति एक ही कानूनी स्थिति में नहीं हैं। विशेष आवेदन वाली सूची से किसी व्यक्ति का बाहर होना और पहले से भारतीय नागरिक का अधिकार छिनना अलग घटनाएँ हैं। इस फ़र्क को साफ़ रखना अध्याय की सबसे ज़रूरी जिम्मेदारियों में से एक है। तब पाठक असल असर समझ पाएगा और भ्रम घटेगा।

नागरिकता संशोधन अधिनियम के बारे में एक बड़ी गलतफहमी यह है कि उससे भारत के सभी मुसलमानों की नागरिकता अपने आप खत्म हो जाती है। 2019 के इस संशोधन का पाठ ऐसा आम निरसन नहीं करता। उसका केंद्र तय विदेशी समूहों के लिए नागरिकता प्राप्त करने की व्यवस्था है। लेकिन यह कहना कि इससे नागरिकता पर कोई संवैधानिक या सामाजिक सवाल उठ ही नहीं सकता, वह भी बहस को गलत तरीके से बंद करना होगा।

किसे विशेष सुविधा मिली और किसे नहीं, इस पर बराबरी का सवाल उठ सकता है। धर्म आधारित वर्गीकरण का औचित्य, देशों का चयन और अलग उत्पीड़ित समूहों की स्थिति जैसे विषय अहम हैं। इन पर पक्षकार तर्क रखते हैं और संवैधानिक परीक्षण अपनी प्रक्रिया से होता है। विरोध की मौजूदगी अंतिम असंवैधानिकता नहीं, सरकार का समर्थन अंतिम संवैधानिक फैसला नहीं। दोनों के बीच अदालत की भूमिका बनी रहती है।

इस विशेष व्यवस्था में क्षेत्रीय अपवाद भी हैं। छठी अनुसूची में शामिल संबंधित जनजातीय क्षेत्रों तथा इनर लाइन वाले क्षेत्रों की स्थिति अलग रखी गई। इसलिए तीन देशों और छह समुदायों का ज़िक्र पूरा नियम नहीं। प्रवेश की तारीख, सरकारी छूट, क्षेत्र और आवेदन की शर्तें मिलकर दायरा बनाती हैं। किसी व्यक्ति को पात्रता समझाने के लिए सभी संबंधित हिस्से पढ़ने होंगे।

मुस्लिम विदेशी व्यक्ति के लिए आम पंजीकरण या देशीयकरण की राह अपनी शर्तों के अनुसार बनी रह सकती है। विशेष सूची से बाहर होना उस आम कानून के हर रास्ते का अंत नहीं है। वहीं आम रास्ते का ज़िक्र कर देने से विशेष चयन पर उठे बराबरी के सवाल अपने आप मिट नहीं जाते। दोनों बातें साथ समझी जा सकती हैं। इस किताब में हम किसी एक बात को दूसरी की जगह नहीं देंगे। पाठक अपनी स्थिति पहचाने, यही मक़सद है। क्या वह नागरिक है, क्या वह कानूनी प्रवासी है, क्या वह आवेदन की किसी श्रेणी में आता है और कौन सी प्रक्रिया संबंधित है? इन सवालों का सही क्रम उसे कानून से जुड़ी चर्चा में ज़्यादा मज़बूत जगह देगा। बिना उस क्रम के सिर्फ़ नाम सुनकर कानूनी नतीजा तय करना उचित नहीं होगा।

2019 के अधिनियम और उसके तहत आवेदन की प्रक्रिया को एक ही तारीख में समेटना सही नहीं। 11 मार्च 2024 को नागरिकता संशोधन नियम अधिसूचित हुए। उनमें संबंधित पात्र व्यक्तियों के आवेदन, दस्तावेज़, जिला स्तर की समिति और सशक्त समिति की प्रक्रिया रखी गई। इस तरह अधिनियम की पात्रता को प्रशासनिक आवेदन का रास्ता मिला। नियम संसद के मूल अधिनियम से अलग विधिक स्तर पर बनते हैं, हालांकि उन्हें उसी से शक्ति मिलती है।

2024 की व्यवस्था में इलेक्ट्रॉनिक आवेदन, दस्तावेज़ की जाँच और राजनिष्ठा की शपथ जैसे चरण आते हैं। आवेदन जमा होने की पावती और नागरिकता का अंतिम प्रमाणपत्र अलग हैं। सिर्फ पोर्टल पर फॉर्म भर देने से हर आवेदक को नागरिकता मिल गई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जांच तथा सक्षम प्राधिकारी का निर्णय बाकी रहता है। पात्रता का दावा दस्तावेज़ और तय प्रक्रिया में देखा जाएगा।

इस क्षेत्र में आगे नियम भी बदले। 19 अगस्त 2026 के तीसरे संशोधन नियमों ने कुछ बताए गए राज्यों और केंद्रशासित क्षेत्रों में धारा 6B वाले आवेदन के लिए संबंधित कलेक्टर की भूमिका रखी। इसमें गुजरात, राजस्थान, पंजाब, पश्चिम बंगाल, असम और त्रिपुरा (छठी अनुसूची के जनजातीय क्षेत्रों को छोड़कर), तथा जम्मू-कश्मीर और लद्दाख शामिल हैं। इन क्षेत्रों में सामान्यतः रहने वाले संबंधित आवेदकों के लिए सक्षम कलेक्टर की भूमिका निर्धारित की गई है। इसलिए 2024 की समिति व्यवस्था को बिना बाद के नियम पढ़े हर मौजूदा आवेदन का एकमात्र रास्ता कहना अधूरा होगा।

यह बदलाव मूल 2019 अधिनियम के धार्मिक और देश संबंधी दायरे को अपने आप नई सूची नहीं बना देता। आवेदन कौन प्राप्त करेगा और तय करेगा, यह प्रक्रियात्मक सवाल है; किसे पात्र माना जाएगा, उसका आधार संबंधित अधिनियम और नियमों में है। दोनों को अलग रखना ज़रूरी है। इस पन्ने पर 2026 के नियम का जिक्र इसलिए है कि किताब आज तक की कहानी लिख रही है। कानून की जानकारी तारीख के साथ बदल सकती है। आवेदक की स्थिति समझने के लिए नवीनतम लागू प्रक्रिया और उसके क्षेत्र को देखा जाए। पुराने फॉर्म या पुरानी खबर से हर नया आवेदन तैयार नहीं होगा। सही जानकारी का मतलब सिर्फ इतिहास याद रखना नहीं, आज संबंधित व्यवस्था की पहचान करना भी है। प्रक्रिया की तारीख इसलिए अहम रहेगी।

नागरिकता की बहस में सीएए, एनआरसी और एनपीआर तीन नाम एक साथ सुनाई देते हैं। लेकिन उनका कानूनी काम एक जैसा नहीं। नागरिकता संशोधन अधिनियम खास पात्र समूहों के लिए नागरिकता प्राप्त करने की व्यवस्था बदलता है। नागरिकों का राष्ट्रीय रजिस्टर नागरिक सदस्यता की पहचान से जुड़ा है। राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर आम निवासियों की जानकारी से संबंधित है। निवासी और नागरिक की परिभाषाएँ एक नहीं हैं, इसलिए इन नामों को एक सूची कहना गलत है।

मगर फ़र्क होने का मतलब यह नहीं कि नियमों में इनके बीच कोई संबंध पढ़ना ही नहीं चाहिए। नागरिकता अधिनियम और 2003 के पंजीकरण नियमों में जनसंख्या तथा नागरिक पंजीकरण की व्यवस्थाएँ देखनी होंगी। किस कार्यवाही में कौन सी सूचना ली जा रही है, उसके आधार पर क्या सत्यापन होगा और व्यक्ति को अपना पक्ष रखने का क्या रास्ता है, ये सवाल हैं। सिर्फ़ अलग नाम बता देना पूरी कानूनी चर्चा नहीं।

किसी विशेष क्षेत्र की प्रक्रिया और पूरे देश की स्थिति भी अलग हो सकती है। असम का अनुभव अपनी ऐतिहासिक तथा कानूनी पृष्ठभूमि रखता है। उसे हर दूसरे राज्य की मौजूदा व्यवस्था मान लेना उचित नहीं। वहीं किसी समय सरकार ने एक निर्णय न होने की बात कही हो तो उसका बयान उसी तारीख़ का रिकॉर्ड है। उसे भविष्य का वादा बना देना भी नहीं। लागू अधिसूचना और नियम देखे जाएँगे।

मुस्लिम समाज में इन नामों से जो आशंका पैदा हुई, उसे हँसी में उड़ाना उचित नहीं। लेकिन आशंका का जवाब तथ्य से देना होगा। कौन सी कार्यवाही असल में शुरू हुई है, कौन सी घोषणा है और कौन सा प्रस्ताव अभी विचार में है, यह साफ़ बताया जाए। किताब किसी अफवाह को कानूनी आदेश नहीं बनाएगी। हर व्यक्ति के दस्तावेज़ तथा स्थिति के सवाल भी सम्मान से देखे जाएँगे। जानकारी मिलने से वह अपने मामले का जवाब तैयार कर सकता है और अनावश्यक भ्रम से बाहर आ सकता है। नागरिकता का विषय इतना गंभीर है कि यहाँ छोटा राजनीतिक वाक्य पर्याप्त नहीं। नियम, कार्यवाही की तारीख़ और सुनवाई का रास्ता तीनों साथ बताने होंगे, तभी अधिकार की रक्षा की चर्चा ठोस बनेगी।

असम की नागरिकता संबंधी कहानी का अपना इतिहास है। सीमा, आवागमन, भाषा और स्थानीय पहचान के सवाल वहाँ लंबे समय से जुड़े रहे। नागरिकता अधिनियम की धारा 6A असम समझौते से संबंधित विशेष व्यवस्था है। इसमें 1 जनवरी 1966 और 25 मार्च 1971 जैसी तारीखें अलग भूमिका रखती हैं। इन्हें 2019 के अधिनियम की 31 दिसंबर 2014 वाली तारीख के साथ मिला देना कानूनी व्यवस्थाओं को बिगाड़ देगा।

धारा 6A में तय क्षेत्र से आए व्यक्तियों और उनके आगमन तथा पहचान की शर्तों का ढाँचा है। अलग समय में आने वालों के लिए कानूनी नतीजे रहे हैं। इसलिए सिर्फ असम में रहता है या किसी खास भाषा में बोलता है, इतना किसी व्यक्ति की नागरिकता तय नहीं करता। उसकी स्थिति, तारीख और प्रक्रिया देखनी पड़ती है। क्षेत्र का इतिहास सबूत का विकल्प नहीं है।

राष्ट्रीय रजिस्टर की असम वाली कार्यवाही तथा विदेशी होने के दावे से जुड़े मंचों की प्रक्रिया अलग समझनी होगी। किसी सूची में नाम न होना, किसी नोटिस का आना और न्यायिक स्थिति एक जैसी बातें नहीं। संबंधित नियम, उपलब्ध चुनौती और आदेश का चरण देखे बिना किसी व्यक्ति को अंतिम रूप से विदेशी लिख देना गलत हो सकता है। हर प्रक्रिया की अपनी शर्त और कानूनी नतीजा है।

इस अनुभव से देश के पाठक के लिए सीख निकलती है। नागरिकता के विवाद में इतिहास और राष्ट्रीय अधिनियम दोनों को पढ़ना ज़रूरी है। कोई क्षेत्र विशेष व्यवस्था रखता हो तो उसकी कसौटी दूसरी जगह बिना आधार लागू नहीं होगी। लेकिन दस्तावेज़ की कठिनाई, गरीब परिवार की पहुँच और सुनवाई की ज़रूरत व्यापक सवाल हैं। इन्हें हम अनदेखा नहीं करेंगे। भाषा या धर्म के आधार पर किसी पूरे समूह की नागरिकता पर अंतिम टिप्पणी करना कानून की जिम्मेदार पढ़ाई नहीं। जहाँ असल विवाद हो, वहाँ व्यक्ति को संबंधित सबूत और निष्पक्ष प्रक्रिया की जगह मिलनी चाहिए। समाज की सुरक्षा और नागरिक की गरिमा को एक साथ देखने से चर्चा ज़्यादा उपयोगी होती है। असम का इतिहास इसी सावधानी के साथ पढ़ा जाएगा, ताकि उसका अनुभव समझ आए और उसे बाकी देश के लिए अधूरा नारा न बनाया जाए।

नागरिकता का सवाल परिवार तक पहुँचे तो कागज़ों की चिंता बढ़ जाती है। जन्म की तारीख, नाम की वर्तनी और माता-पिता की जानकारी अलग कागज़ों में अलग मिल सकती है। ऐसे अंतर गरीब या कम पढ़े परिवारों में ज़्यादा मुश्किल पैदा कर सकते हैं। लेकिन हर अंतर का मतलब धोखा नहीं होता। उसका कारण और सही रिकॉर्ड की स्थिति देखनी होगी। दस्तावेज़ की गलती तथा व्यक्ति की नागरिकता एक ही सवाल नहीं।

पहले यह समझना ज़रूरी है कि जानकारी किस कार्यवाही में माँगी गई है। जन्म पंजीकरण, पासपोर्ट आवेदन, नागरिकता का आवेदन और किसी विशेष नोटिस का जवाब अलग ज़रूरतें रखते हैं। सबके लिए एक ही सबूत सूची बताना उचित नहीं। प्राधिकारी की वैध माँग और लागू नियम पढ़े जाएँ। कोई सूची सोशल मीडिया पर आई हो तो उसका सरकारी स्रोत तथा तारीख जाँचना चाहिए। अफवाह से फाइल तैयार करने पर समय और पैसा दोनों बिगड़ सकते हैं।

मूल दस्तावेज़ सुरक्षित रखना और प्रमाणित प्रतियाँ सँभालना उपयोगी है। सुधार करना हो तो सही आधार और तय प्रक्रिया अपनाई जाए। नया गलत सबूत बनवाना या पुराने दस्तावेज़ में खुद परिवर्तन करना हल नहीं। नोटिस आए तो उसकी समयसीमा तथा संबंधित मंच की पहचान ज़रूरी होगी। जवाब में तथ्य रखे जाएँ। ज़रूरत हो तो कानूनी सहायता से उस कार्यवाही का सही तरीका समझा जाए।

इस काम में समुदाय की भूमिका मदद की हो सकती है। पढ़े लोग बुजुर्गों को कागज़ समझाएँ, महिलाओं को परिवार के रिकॉर्ड तक पहुँच दें और कमज़ोर परिवार को सही कार्यालय की जानकारी दें। मगर दस्तावेज़ों के नाम पर डर दिखाकर पैसा लेना या झूठी गारंटी देना शोषण है। किसी व्यक्ति को यह कहना कि एक खास कार्ड बनवा लो तो हर नागरिकता सवाल हमेशा के लिए खत्म, बिना कानूनी आधार उचित नहीं। हम पाठक को तैयार और सतर्क रखना चाहते हैं। नागरिकता की रक्षा सिर्फ़ बहस में ऊँची आवाज़ से नहीं होती; सही रिकॉर्ड, समय पर जवाब और निष्पक्ष सुनवाई से भी होती है। सम्मान इसी में है कि हर व्यक्ति अपनी बात समझकर रख सके और उसके नाम या मज़हब से पहले उसके तथ्य सुने जाएँ।

भाग तीन में कानूनों की बदलती शक्ल का संबंध दिखाई देता है। पर्सनल लॉ परिवार की निजी व्यवस्था में आता है। भरण-पोषण शादी टूटने के बाद सुरक्षा का सवाल उठाता है। तीन तलाक़ वाला कानून विवाह पर निषिद्ध घोषणा के असर और दंड को अलग रखता है। वक्फ़ संपत्ति के मक़सद तथा समुदाय की संस्थागत ज़िम्मेदारी से जुड़ता है। नागरिकता व्यक्ति की देश में कानूनी सदस्यता का सवाल है। इन विषयों को एक जैसा मामला नहीं बनाया जा सकता।

फिर भी इन्हें जोड़ने वाली बात अधिकार और प्रक्रिया है। किसी महिला को अपना दावा रखने की जगह मिले, किसी संस्था की संपत्ति का विवाद सुनवाई से तय हो और किसी नागरिक की स्थिति सबूत के आधार पर देखी जाए—हर जगह इंसाफ़ का यह उसूल सामने रहता है। कानून का नाम जितना बड़ा हो, उसका लाभ जीवन में उतना ही साफ़ होना चाहिए। घोषणा से नागरिक की परेशानी खत्म नहीं होती।

इस हिस्से में हमने सरकार के अधिनियम, उसके संशोधन, नियम और अदालत के फैसले को अलग रखा है। यह फ़र्क़ सिर्फ़ कानूनी भाषा की सफाई नहीं। इसी से पता चलता है कि किस दौर में क्या बदला और उस बदलाव पर न्यायिक प्रतिक्रिया क्या रही। अंतरिम रोक को अंतिम निर्णय, आवेदन को स्वीकृति और प्रचार को नतीजा नहीं कहा जा सकता। इतिहास की समझ इसी सावधानी से बनती है।

मुस्लिम समाज के लिए इस जानकारी का उपयोग अधिकार को पहचानने और ज़िम्मेदारी निभाने दोनों में है। परिवार में महिला की आवाज़ सुनी जाए, वक्फ़ में अमानत का हिसाब रखा जाए और नागरिकता में सही दस्तावेज़ तथा निष्पक्ष प्रक्रिया पर जोर हो। यही काम ज़िंदगी में कानून को मतलब देता है। आगे किताब की चर्चा में भी हमारी निगाह सिर्फ़ लिखे हुए अधिकार पर नहीं, उसके रास्ते और असर पर रहेगी। जहाँ लाभ का दावा होगा, सबूत पूछा जाएगा। जहाँ नुकसान की बात होगी, उसका आधार देखा जाएगा। किसी सरकार या समुदाय के बारे में पहले से फैसला रखकर इतिहास नहीं लिखा जाएगा। हम उसी रास्ते पर आगे बढ़ेंगे जिसमें इंसान की गरिमा, तथ्य और इंसाफ़ की उम्मीद साथ रह सकें।

भाग चार — हिस्सेदारी और सरकारी नीतियाँ

अध्याय 13 — राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग और उसकी भूमिका

पिछले भाग में हमने देखा कि कानून आदमी की ज़िंदगी से अलग कोई सूखी चीज़ नहीं है। उसका असर घर के भीतर भी पहुँचता है और दफ़्तर की चौखट पर भी। अब हम उस चौखट से आगे बढ़ते हैं। सवाल यह है कि जिन लोगों के लिए बराबरी का वादा किया गया, उनकी बात सरकार तक किस तरह पहुँचे? और पहुँचने के बाद उस पर कार्रवाई कौन देखे?

एक गरीब आदमी जब अपनी शिकायत लेकर जाता है तो उसके सामने सिर्फ़ एक अधिकारी नहीं होता। उसके सामने भाषा की मुश्किल, किराए का खर्च, मजदूरी का नुकसान और अनजान कागज़ों का डर भी खड़ा होता है। वह चाहता है कि कोई उसकी बात ध्यान से सुने। इसी ज़रूरत से ऐसे संस्थानों की अहमियत समझ आती है जिनका काम कमज़ोर आवाज़ को सरकारी जवाबदेही से जोड़ना है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग को इसी सिलसिले में पढ़ना चाहिए।

आयोग का मतलब यह नहीं कि अल्पसंख्यक नागरिक बाकी हिंदुस्तान से अलग हैं। बल्कि इसका बुनियादी सवाल यही है कि क्या उन्हें भी वही हक, वही सुरक्षा और वही अवसर मिल रहे हैं जिनका दावा हमारा लोकतंत्र करता है? बराबरी अगर रोज़मर्रा में टूट रही हो तो उसे पहचानने और सुधार की बात उठाने वाला मंच ज़रूरी हो जाता है। मुसलमानों के लिए यह विषय खास अहमियत रखता है, लेकिन आयोग सिर्फ़ मुसलमानों का संस्थान नहीं है। उसके दायरे में केंद्र द्वारा अधिसूचित दूसरे अल्पसंख्यक समुदाय भी आते हैं। किसी एक समुदाय की परेशानी समझते हुए दूसरों की परेशानी से बेखबर रहना इस संस्था की भावना को छोटा कर देगा।

इस अध्याय में हम आयोग से उम्मीद भी रखेंगे और उसकी हद भी समझेंगे। किसी दफ़्तर की तारीफ़ उसके नाम से नहीं होती। उसकी पहचान उस गरीब की शिकायत से बनती है जो वहाँ पहुँची, उस जवाब से बनती है जो अधिकारी ने दिया, और उस सुधार से बनती है जो आखिरकार ज़मीन पर दिखाई दिया। एक सुनी गई शिकायत आदमी को सिर्फ़ राहत नहीं देती, उसे यह भरोसा भी देती है कि उसकी नागरिक हैसियत कागज़ पर लिखे नाम से कहीं ज़्यादा मायने रखती है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग का मौजूदा कानूनी आधार राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 है। यह कानून 1993 में लागू हुआ। इसलिए आयोग को समझते समय सबसे पहले उसकी कानूनी हैसियत समझनी होगी। वह संसद के बनाए कानून से निकला संस्थान है। उसे संविधान में सीधे स्थापित आयोग कहना ठीक नहीं होगा। इस फ़र्क़ से उसका महत्व कम नहीं होता, बल्कि उसकी ज़िम्मेदारी की सही पहचान होती है।

कानून आयोग के गठन, सदस्यों, कार्यकाल और काम का ढाँचा तय करता है। इसमें अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और पाँच सदस्य रखने का प्रावधान है। नियुक्ति केंद्र सरकार करती है। ऐसी नियुक्ति में योग्यता, ईमानदारी और सार्वजनिक प्रतिष्ठा का सवाल इसलिए अहम है कि आयोग को उन्हीं सरकारी व्यवस्थाओं से जवाब माँगना पड़ सकता है जिनके साथ वह रोज़ काम करता है।

हम किसी संस्था की मज़बूती सिर्फ़ कुर्सियों की गिनती से नहीं नाप सकते। वहाँ शोध करने वाले लोग हैं या नहीं, शिकायतों का रिकॉर्ड ठीक रहता है या नहीं, दूरदराज़ से आई अर्जियाँ पढ़ी जाती हैं या नहीं, यह भी उतना ही ज़रूरी है। बड़े नामों वाली संस्था भी कमज़ोर पड़ सकती है अगर उसके पास काम करने का साधन और साफ़ व्यवस्था न हो। इसके उलट, नियमित सुनवाई, समझने योग्य जवाब और लगातार निगरानी संस्था को लोगों के करीब लाते हैं। एक नागरिक को यह मालूम होना चाहिए कि उसका पत्र सिर्फ़ मेज़ बदलता रहा या उससे कोई पूछताछ भी शुरू हुई। दफ़्तर की खामोशी कई बार शिकायतकर्ता को दूसरी बार आने से रोक देती है।

आयोग के अस्तित्व को हम एक उपलब्धि समझ सकते हैं, लेकिन उपलब्धि की हिफ़ाज़त उसके इस्तेमाल से होती है। कानून बन जाने के बाद समाज की ज़िम्मेदारी खत्म नहीं होती। उसे देखना पड़ता है कि संस्था अपने घोषित काम तक पहुँच भी रही है या नहीं। यही नज़र सम्मान और आलोचना को साथ रखती है। लोकतंत्र में किसी संस्था का सम्मान उसके बारे में सवाल पूछने से घटता नहीं, बल्कि उसकी जवाबदेही खुलने से बढ़ता है। नागरिक को संस्था से डरने के बजाय उसके काम को समझना और अपने अनुभव के आधार पर उसे परखना आना चाहिए।

अल्पसंख्यक शब्द बोलते ही अक्सर लोग सिर्फ़ आबादी की संख्या पर ठहर जाते हैं। आयोग के कानून में इसका एक तय प्रशासनिक मतलब है। इस कानून के लिए वही समुदाय अल्पसंख्यक हैं जिन्हें केंद्र सरकार ने अधिसूचित किया है। मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी और जैन इस केंद्रीय व्यवस्था में शामिल समुदाय हैं। यह सूची नागरिकता की अलग श्रेणी नहीं बनाती। इस पहचान का एक काम यह है कि संरक्षण और विकास से जुड़े सवाल व्यवस्थित ढंग से उठाए जा सकें।

लेकिन इससे यह नतीजा निकालना गलत होगा कि हर अधिसूचित समुदाय का हर व्यक्ति एक जैसी आर्थिक हालत में है। एक संपन्न व्यापारी और एक बेघर मजदूर मज़हबी पहचान साझा कर सकते हैं, मगर उनकी ज़रूरतें अलग होंगी। नीति को दोनों बातें साथ देखनी चाहिए। मुस्लिम समाज में भी यही बात लागू होती है। शहर और गाँव का फ़र्क़ है, प्रदेशों का फ़र्क़ है, औरतों और मर्दों के अनुभवों का फ़र्क़ है। परिवार की आमदनी, पढ़ाई, पेशा और सामाजिक हैसियत भी जीवन के रास्ते बदलते हैं। सिर्फ़ मज़हबी नाम लिख देने से इन फ़र्कों की समझ पूरी नहीं हो जाती।

यहाँ एक और सावधानी चाहिए। केंद्रीय आयोग के लिए अधिसूचित पहचान और संविधान के अलग प्रावधानों के अंतर्गत किसी शिक्षण संस्थान की अल्पसंख्यक स्थिति को एक ही कागज़ समझ लेना ठीक नहीं। तालीम, भाषा और राज्य के संदर्भ में अलग सवाल उठ सकते हैं। जिस मामले की चर्चा हो, उसी का कानूनी आधार देखना पड़ता है।

हमारे लिए अल्पसंख्यक होने का मतलब कमतर नागरिक होना नहीं है। न इसका मतलब यह है कि नागरिक अपने अधिकार सिर्फ़ सामुदायिक दफ़्तर के रास्ते माँग सकता है। पुलिस, अदालत, विद्यालय, बैंक और स्थानीय प्रशासन भी उसकी सेवा के लिए हैं। आयोग इन व्यवस्थाओं में होने वाली कमी पर निगाह रखने का एक मंच है। अगर कोई अधिकारी कहे कि तुम्हारा मामला सिर्फ़ आयोग देखेगा, तो नागरिक को समझना चाहिए कि आम विभाग अपनी ज़िम्मेदारी से बच नहीं सकता। बराबरी की पहली जगह वही रोज़मर्रा का दफ़्तर है जहाँ सब जाते हैं। दूसरे मंच की मौजूदगी से यह ज़िम्मेदारी टाली नहीं जा सकती।

आयोग के काम की पहली बड़ी दिशा अल्पसंख्यकों के विकास की रफ़्तार देखना है। दूसरी दिशा संविधान और कानूनों में दिए संरक्षणों के अमल पर निगरानी रखना है। तीसरी दिशा शिकायतों और भेदभाव से जुड़े सवाल उठाना है। इन तीनों को अलग करके देखें तो संस्था का काम छोटा दिखाई देगा। साथ रखें तो मालूम होगा कि सुरक्षा और विकास एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

मान लीजिए किसी बस्ती में बच्चे स्कूल से दूर रह जाते हैं। वजह सिर्फ़ फीस नहीं भी हो सकती। स्कूल दूर है, रास्ता असुरक्षित है, लड़कियों के लिए शौचालय नहीं है, या परिवार को प्रवेश की जानकारी नहीं मिली। विकास का सवाल इन सारी बातों को देखने की माँग करता है। तालीम का अधिकार तभी असर करेगा जब पहुँचने का रास्ता भी मौजूद हो।

इसी तरह किसी समुदाय के लोगों की शिकायत हो कि स्थानीय प्रशासन उनकी बात नहीं सुनता, तो सिर्फ़ एक पत्र भेज देना काफी नहीं। पूछा जाना चाहिए कि अर्जियाँ कब आईं, किस अधिकारी को दी गईं, क्या कार्रवाई हुई और शिकायतकर्ता को क्या बताया गया। इस तरह निजी अनुभव से प्रशासन के काम की जाँच का रास्ता खुलता है।

आयोग अध्ययन और शोध भी करा सकता है। इसकी अहमियत बहुत है। बिना जाँच हर बात एक आरोप या सफाई बनकर रह जाती है। शोध बता सकता है कि परेशानी किसी एक जिले तक सीमित है या कई जगह एक जैसी है। इससे सरकार को सुधार का रास्ता सुझाना आसान होता है। लेकिन अध्ययन का मूल्य तभी है जब वह लोगों की ज़िंदगी से जुड़ा हो। भारी रिपोर्ट में गरीब की आवाज़ खो जाए तो उसका मक़सद अधूरा रहेगा। हमारे यहाँ अक्सर संख्या दिखाई जाती है, अनुभव छूट जाता है; कभी अनुभव सुनाया जाता है, संख्या नहीं आती। अच्छी जाँच दोनों को जोड़ती है। कितने बच्चों ने पढ़ाई छोड़ी और क्यों छोड़ी, कितने आवेदकों को लाभ नहीं मिला और कहाँ अड़चन आई, ऐसे सवाल आयोग की निगरानी को आधार देते हैं। तभी उसकी सिफारिश किसी आम नसीहत से आगे बढ़कर सुधार की ठोस माँग बनती है। जाँच से सही सवाल निकलेंगे।

लोग कभी पूछते हैं कि आयोग के पास ताक़त कितनी है। इसका जवाब दो हिस्सों में देना चाहिए। कानून उसे कुछ काम करते समय गवाह बुलाने, दस्तावेज़ माँगने, शपथपत्र पर सबूत लेने और सार्वजनिक रिकॉर्ड माँगने जैसी दीवानी अदालत की प्रक्रिया संबंधी ताक़तें देता है। इससे उसकी पूछताछ सिर्फ़ मज़ी की बातचीत तक सीमित नहीं रहती। वह संबंधित विभाग से तथ्य सामने लाने को कह सकता है।

लेकिन इन शक्तियों को सुनकर आयोग को आम अदालत समझ लेना भूल होगी। शिकायत पर उसकी भूमिका, जाँच और सिफारिश का ढाँचा अदालत में मुकदमा चलने से अलग है। वह अपने नाम से किसी अपराध की सजा सुनाने वाला न्यायालय नहीं बन जाता। इसलिए ज़रूरी कानूनी राहत के लिए अदालत या दूसरे सक्षम अधिकारी का रास्ता भी देखना पड़ सकता है।

किसी परिवार को तुरंत सुरक्षा चाहिए तो आयोग को पत्र लिखना स्थानीय सुरक्षा व्यवस्था की जगह नहीं लेता। किसी छात्र की प्रवेश समयसीमा खत्म हो रही हो तो सिर्फ़ लंबे पत्राचार पर टिके रहना नुकसानदेह हो सकता है। संबंधित विभाग, उपलब्ध अपील और उचित कानूनी सहायता की ज़रूरत अलग बनी रहती है। सही मंच पहचानना अधिकार की रक्षा का हिस्सा है। इसी वजह से संस्था का मूल्य उसकी सीमाएँ छिपाने में नहीं है। शिकायतकर्ता को साफ़ बताया जाए कि आयोग क्या कर सकता है, दूसरे विभाग को क्या करना है और मामले की अगली स्थिति कैसे मालूम होगी। इससे आदमी झूठी उम्मीद में महीनों नहीं बैठता। साफ़ जवाब कभी किसी बड़े आश्वासन से ज़्यादा मदद करता है।

सिफारिश की ताक़त भी समझनी चाहिए। वह अपने साथ जाँच, सार्वजनिक सवाल और सरकारी जवाब की माँग ला सकती है। उसका असर इस पर निर्भर करेगा कि उसका पीछा कितनी गंभीरता से किया गया। अगर सिफारिश भेजकर मामला भुला दिया जाए तो नागरिक को फ़ायदा कम पहुँचेगा। अगर जवाब लिया जाए, कमी उजागर की जाए और सुधार दर्ज हो, तो वही सिफारिश सरकारी काम में फ़र्क़ ला सकती है। असली कसौटी कागज़ की भाषा नहीं, उससे आगे बढ़ी कार्रवाई है। शिकायतकर्ता तक उसकी स्थिति पहुँचती रहे, तो वह भी अपने मामले का ज़िम्मेदार सहभागी बनेगा।

शिकायत लिखना कोई साहित्य का मुक़ाबला नहीं है। उसमें पहले घटना साफ़ होनी चाहिए। क्या हुआ, कहाँ हुआ, कब हुआ और किससे संबंधित है, यह बात सीधे शब्दों में आए। शिकायतकर्ता की पहचान और संपर्क का भरोसेमंद तरीका भी ज़रूरी है। अगर किसी और की ओर से बात रखी जा रही हो तो उसकी जानकारी और सहमति का ध्यान रखना चाहिए।

मान लीजिए एक छात्र कहता है कि उसे धर्म के कारण प्रवेश से रोका गया। उसे उपलब्ध प्रवेश सूचना, आवेदन, जवाब और संबंधित बातचीत के सबूत सुरक्षित रखने चाहिए। अगर दूसरे छात्रों के साथ तुलना ज़रूरी हो तो तथ्य सही तरीके से जुटाए जाएँ। सिर्फ़ अनुमान को सबूत बताने से मामला कमज़ोर पड़ सकता है। इसके बावजूद सबूत जुटाने की कठिनाई को शिकायत न सुनने का बहाना भी नहीं बनाया जाना चाहिए।

इसी तरह किसी परिवार की शिकायत प्रशासन की लापरवाही से हो तो पहले दी गई अर्जियों की प्रतियाँ और प्राप्ति की जानकारी काम आती है। मूल कागज़ अपने पास सुरक्षित रखें। जो बात खुद देखी है, उसे सुनी हुई बात से अलग लिखें। शिकायत जितनी साफ़ होगी, जाँच करने वाले के लिए ज़िम्मेदार अधिकारी तक पहुँचना उतना आसान होगा। यहाँ तहज़ीब और मज़बूती दोनों साथ चल सकती हैं। शालीन भाषा का मतलब कमज़ोर माँग नहीं है। आदमी सम्मान के साथ कह सकता है कि मेरी शिकायत दर्ज की जाए, तथ्य जाँचे जाएँ और कार्रवाई का जवाब मुझे दिया जाए। अपशब्द, बढ़ा हुआ आरोप और बिना आधार किसी की नीयत पर फैसला शिकायत के ज़रूरी हिस्से को ढक देते हैं।

सामाजिक संगठनों की मदद इस जगह उपयोगी हो सकती है। वे अनपढ़ व्यक्ति की बात लिख दें, दस्तावेज़ क्रम से लगा दें और जवाब समझा दें। लेकिन मदद के बदले उसका मामला अपने प्रचार की सीढ़ी न बना लें। शिकायतकर्ता की तस्वीर, पता या निजी परेशानी बिना ज़रूरत सार्वजनिक करना उसकी मुश्किल बढ़ा सकता है। अधिकार की लड़ाई में भी आदमी की इज़्ज़त पहले रहनी चाहिए। जिस आवाज़ को उठाने निकले हैं, उसी आदमी की इच्छा और सुरक्षा को भुला देना इंसाफ़ के रास्ते को खराब करता है।

राष्ट्रीय आयोग के साथ राज्य स्तर की व्यवस्थाओं को भी समझना चाहिए। कुछ राज्यों में अल्पसंख्यक आयोग बने हैं। उनके गठन और अधिकार संबंधित राज्य के कानून या व्यवस्था से तय होते हैं। हर राज्य में एक जैसा ढाँचा, एक जैसी प्रक्रिया और एक जैसी ताकत मान लेना सही नहीं होगा। स्थानीय शिकायत में पहले यह देखना उपयोगी है कि संबंधित विषय किस विभाग और किस मंच के दायरे में आता है। राष्ट्रीय और राज्य संस्थाओं के बीच अच्छा तालमेल नागरिक का समय बचा सकता है।

जिला प्रशासन से तथ्य आएँ, राज्य विभाग ज़िम्मेदारी समझे और आयोग निगरानी करे, तो मामला व्यवस्थित चलता है। लेकिन अगर हर दफ़्तर अर्ज़ी दूसरे दफ़्तर को भेजता रहे और कोई जवाब न दे, तो व्यवस्था का बोझ शिकायतकर्ता पर पड़ता है। गरीब आदमी के लिए यह घूमना सजा जैसा हो जाता है। इसीलिए अर्ज़ी भेज देने और समस्या हल हो जाने में फ़र्क़ रखना होगा। किसी शिकायत की स्थिति में लिखा हो कि मामला संबंधित अधिकारी को भेज दिया गया, तो अगला सवाल है कि अधिकारी ने क्या किया।

शिकायत बंद होने की संख्या सुनकर भी यही पूछना चाहिए कि बंद किस आधार पर हुई। हल, अधिकारक्षेत्र की कमी और जवाब न मिलना अलग बातें हैं। एक ज़िम्मेदार संस्था अपने काम का ऐसा हिसाब दे सकती है जिसे आम आदमी समझ सके। कितनी शिकायतें मिलीं, किस तरह की थीं, कितनों में कार्रवाई हुई, और बार-बार कौन सी बाधा सामने आई? इससे समाज को भी पता चलता है कि उसके अनुभव सिर्फ़ अलग घटनाएँ हैं या प्रशासनिक सुधार की बड़ी ज़रूरत दिखाते हैं।

गाँव और कस्बे में आयोग की पहचान बढ़ाने के लिए स्थानीय भाषा में जानकारी ज़रूरी है। दफ़्तर का पता इंटरनेट पर होना अच्छी बात है, लेकिन उस मजदूर तक कैसे पहुँचेगी जिसके पास अपना फोन भी नहीं? विद्यालय, सार्वजनिक सहायता केंद्र और भरोसेमंद सामाजिक मंच यहाँ काम आ सकते हैं। शिकायत का रास्ता समझाना लोगों को सरकार से दूर करना नहीं है। उलटे, यह उन्हें उसी व्यवस्था में अपना अधिकार इस्तेमाल करने की ताकत देता है जिसकी ज़िम्मेदारी उनकी सेवा करना है।

आयोग की रिपोर्ट और सिफारिश सरकार तथा विधानमंडल के सामने आने का अपना महत्व रखती हैं। कानून में कुछ सिफारिशों पर की गई कार्रवाई, प्रस्तावित कार्रवाई या उन्हें स्वीकार न करने के कारण बताने की व्यवस्था है। इसका मक़सद यह है कि बात बंद कमरे के पत्राचार तक सीमित न रह जाए। सार्वजनिक ज़िम्मेदारी सामने आए।

हम अक्सर रिपोर्ट का शीर्षक पढ़ लेते हैं, उसके बाद की स्थिति नहीं देखते। कोई रिपोर्ट कहे कि किसी इलाके में तालीम की सुविधा कम है, तो अगला सवाल स्कूल खोलने, शिक्षक लगाने और बच्चों के टिके रहने का होगा। अगर विभाग कहे कि काम हो गया, तो जगह, तारीख और उपलब्ध सुविधा से उसकी बात जाँची जा सकती है। जवाबदेही में यही बारीकी ज़रूरी है। संसद या विधानसभा में रिपोर्ट रखे जाने से खुद हर कमी दूर नहीं होती। लेकिन वह जनप्रतिनिधियों को सवाल उठाने का आधार देती है। पत्रकार और सामाजिक संगठन भी उसे पढ़कर तथ्यों से चर्चा कर सकते हैं। बहस का स्तर तब ऊपर जाता है जब हम सिर्फ़ बयान का जवाब बयान से नहीं देते, बल्कि विभाग के घोषित काम और सामने मौजूद हालत को मिलाकर देखते हैं।

वार्षिक रिपोर्ट पढ़ते समय संस्था की अपनी क्षमता भी ध्यान में रखें। काफ़ी कर्मचारी हैं या नहीं, अध्ययन पूरे हुए या नहीं, पुरानी शिकायतें अटकी क्यों हैं? सरकारी विभाग से पूछने वाला आयोग अपने काम का हिसाब भी देगा तभी भरोसा बढ़ेगा। जवाबदेही सिर्फ़ दूसरे के लिए रखी गई शर्त नहीं हो सकती।

इस बात से एक नागरिक आदत पैदा होती है। हम समाचार देखकर बेचैन होने तक सीमित न रहें। जहाँ संभव हो, मूल रिपोर्ट और संबंधित जवाब पढ़ें। मुश्किल भाषा का सरल सार बनाया जाए, लेकिन उसमें तारीख और संदर्भ बचा रहे। पुरानी टिप्पणी को आज की स्थिति बनाकर फैलाना किसी समुदाय की मदद नहीं करता। समझ का काम धीमा लग सकता है, मगर उसी से टिकाऊ बात निकलती है। हमारे नौजवान अगर यह काम सीख लें तो मोहल्ले की चर्चा ज़्यादा ज़िम्मेदार होगी और सरकारी दावे पर सवाल भी ज़्यादा साफ, मज़बूत और उपयोगी ढंग से उठ सकेंगे।

किसी आयोग की आज़ादी सिर्फ़ घोषणा से साबित नहीं होती। उसके काम में यह दिखाई देना चाहिए कि वह शिकायत सुनते समय सत्ता, धर्म और सामाजिक रुतबे के दबाव से कितना बच पाता है। नागरिक की बात को उसके कपड़े, बोली या राजनीतिक पहचान देखकर तौलना संस्था के मक़सद को चोट पहुँचाता है। जो सबसे कमज़ोर है, उसके लिए दरवाज़ा सबसे आसानी से खुलना चाहिए।

इस आज़ादी के अमली आधार भी हैं। नियुक्तियाँ समय पर हों, काम करने वाले लोग उपलब्ध हों, ज़रूरी रिकॉर्ड माँगने का साधन हो और रिपोर्ट सार्वजनिक होने में बेवजह देरी न हो। इन ज़रूरतों को पूरा किए बिना सिर्फ़ ऊँची भाषा में अधिकारों की बात करना काफी नहीं। संस्था की रोज़ की मेहनत को साधन चाहिए।

साथ ही आयोग की आलोचना भी तथ्य से होनी चाहिए। कोई फैसला हमें पसंद नहीं आया तो तुरंत पूरी संस्था को बेकार कह देना आसान है। बेहतर यह है कि पूछा जाए, जाँच कैसे हुई, किन बातों को देखा गया और शिकायतकर्ता को जवाब क्या मिला। अगर प्रक्रिया में कमी है तो उसे नाम लेकर सामने लाया जा सकता है। इससे सुधार का रास्ता खुलता है। मुस्लिम समाज को ऐसी संस्थाओं के बारे में दो छोरों से बचना होगा। हर समस्या का हल वहीं मिल जाएगा, यह मानना भी ठीक नहीं। वहाँ जाना बेकार है, यह पहले से तय कर लेना भी ठीक नहीं। सही समझ यह है कि मौजूद मंच का ज़िम्मेदारी से इस्तेमाल किया जाए और उसकी ताक़त बढ़ाने की माँग भी रखी जाए।

एक और बात कहनी ज़रूरी है। समुदाय के बड़े और प्रभावशाली लोगों की पहुँच आसानी से बन जाती है, मगर छोटे कस्बे की विधवा या कम पढ़े मजदूर की शिकायत पीछे रह सकती है। संस्था की सफलता का अच्छा पैमाना यही कमज़ोर आवाज़ है। क्या उसे सुना गया? क्या उसे अपना मामला समझाया गया? क्या उससे ऐसी जानकारी माँगी गई जो वह जुटा सके? इन सवालों के जवाब हमें बताएँगे कि अधिकार की भाषा सचमुच नागरिक तक पहुँची या सिर्फ़ मंच और बैठक तक रह गई। यही फ़र्क़ उसकी सामाजिक अहमियत तय करेगा।

अल्पसंख्यक आयोग, पिछड़ा वर्ग आयोग और अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों से संबंधित आयोग अलग संस्थाएँ हैं। इनके नाम मिलते हुए लग सकते हैं, मगर इनके कानून और काम एक नहीं हैं। जिस मामले में सामाजिक पिछड़ेपन की सूची का सवाल हो, वहाँ सिर्फ़ मज़हबी अल्पसंख्यक पहचान लिख देना काफी नहीं। जिस मामले में शिक्षण संस्थान की कानूनी स्थिति का सवाल हो, उसमें भी संबंधित व्यवस्था अलग देखनी होगी।

भाषाई अल्पसंख्यकों का विषय अपनी संवैधानिक व्यवस्था रखता है। किसी व्यक्ति का मज़हबी समुदाय और उसकी मातृभाषा अलग तरह के सवाल पैदा कर सकते हैं। एक उर्दू बोलने वाला नागरिक अपनी भाषा की सुविधा के बारे में शिकायत करे तो उसकी बात को सिर्फ़ मज़हबी विवाद बना देना ठीक नहीं। तालीम और प्रशासन में भाषा की असल ज़रूरत समझनी चाहिए।

इन फ़र्कों का मतलब नागरिक को उलझाना नहीं है। उलटे, सही जगह पहुँचने का रास्ता साफ़ करना है। मोहल्ले में सहायता देने वाला व्यक्ति अगर सब मामलों को एक ही आयोग के पास भेज दे तो अर्जियों का ढेर बढ़ेगा और राहत में देर होगी। मददगार को जितना नहीं मालूम, उतना साफ़ कहना चाहिए। अंदाज़े को कानूनी सलाह बनाकर देना खतरनाक हो सकता है।

हम एक आसान उदाहरण लें। किसी बच्चे को छात्रवृत्ति नहीं मिली। पहले आवेदन, पात्रता और सत्यापन देखा जाएगा। किसी समुदाय का नाम आरक्षण सूची में नहीं है, तो संबंधित सूची और उसकी प्रक्रिया देखी जाएगी। किसी परिवार के साथ हिंसा हुई, तो सुरक्षा और आपराधिक कार्रवाई का सवाल सामने होगा। तीनों में नागरिक की परेशानी असल है, लेकिन मदद का दरवाज़ा एक जैसा नहीं। समाज की असली सेवा यही समझ बाँटने में है। बड़ी सभा में अधिकार बोल देना आसान है। मुश्किल काम यह है कि किसी एक परिवार को उसकी हालत के मुताबिक सही रास्ता बताया जाए और ज़रूरी मदद दी जाए। संस्थाओं की पहचान जितनी साफ़ होगी, अधिकार की कोशिश उतनी कम भटकेगी। हम अपनी बात मज़बूती से तब रख पाएँगे जब हमें मालूम हो कि माँग किससे करनी है, किस आधार पर करनी है और उसका जवाब कहाँ दर्ज होना चाहिए। समझ को सब तक पहुँचाएँ।

अध्याय के आखिर में हम आयोग को एक दरवाज़े की तरह देख सकते हैं। दरवाज़ा होना अहम है, लेकिन उससे भीतर जाकर काम करवाने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। एक अर्ज़ी, एक सुनवाई और एक सिफारिश तब कामयाब बनती है जब नागरिक की असल परेशानी कम होती है। संस्था के सम्मान और जनहित का रिश्ता यहीं बनता है।

हमने देखा कि आयोग का आधार कानून है, उसका काम निगरानी, शिकायत, अध्ययन और सिफारिश से जुड़ा है। उसकी पूछताछ की शक्तियाँ भी हैं, और उसकी भूमिका की सीमाएँ भी। इस समझ के बाद आदमी किसी संस्था से न तो चमत्कार की उम्मीद रखता है, न उसे बिना इस्तेमाल किए खारिज करता है। वह अपनी बात तैयार करके रखता है और जवाब माँगता है।

लेकिन सिर्फ़ शिकायत का रास्ता जान लेना पूरी हिस्सेदारी नहीं है। अगला सवाल यह है कि समाज के भीतर जिन तबकों की पढ़ाई, रोज़गार और सामाजिक स्थिति कमज़ोर रही है, उन्हें अवसर देने की व्यवस्था क्या है? मज़हबी पहचान और सामाजिक पिछड़ापन कहाँ मिलते हैं और कहाँ अलग हैं? इसी सवाल से आरक्षण और पिछड़े मुस्लिम समुदायों की चर्चा सामने आती है। यह विषय भावनाओं से भरा है। कुछ लोग मुसलमान नाम सुनते ही मान लेते हैं कि सबकी हालत एक है। कुछ लोग गरीबी देखकर हर आदमी को हर आरक्षण का पात्र समझ लेते हैं। दोनों सोच अधूरी हैं। हमारे संविधान में अलग प्रावधान अलग तरह की वंचना और अवसर से जुड़े हैं। उनके सही मतलब जाने बिना विवाद बढ़ता है, समझ नहीं।

अल्पसंख्यक संरक्षण की बात हमें यह सिखाती है कि बराबरी का दावा ज़मीन पर जाँचा जाना चाहिए। पिछड़ेपन की बात आगे सिखाएगी कि एक ही समाज में पीछे छूटे लोगों को भी अलग से देखना ज़रूरी है। किसी समुदाय का सम्मान उसके भीतर मौजूद कमज़ोर आदमी की हालत से अलग नहीं रखा जा सकता। अगर हमारी सार्वजनिक आवाज़ सिर्फ़ ऊपर बैठे लोगों तक सीमित रहे, तो नीचे की तकलीफ़ दब जाएगी। आगे के पन्नों में हम इसी दबे हुए सवाल को इज़्ज़त और साफ़गोई के साथ सामने रखेंगे। हम सवाल से पीछे नहीं हटेंगे।

अध्याय 14 – पिछड़े मुस्लिम समुदाय, OBC और अनुसूचित जाति का सवाल

मुस्लिम समाज को एक रंग में देखना आसान है, समझना मुश्किल। नमाज़ में आदमी साथ खड़ा हो सकता है, लेकिन मस्जिद से बाहर उसकी रोज़ी, सामाजिक पहचान और अवसर की हालत अलग होती है। कोई परिवार पीढ़ियों से पढ़ाई और कारोबार में आगे रहा, कोई बुनाई, मजदूरी, छोटी कारीगरी या दूसरे मेहनतकश पेशों में सीमित रहा। इस फ़र्क़ को कहना समुदाय का अपमान नहीं है। उसे छिपाना कमज़ोर आदमी के साथ बेइंसाफ़ी हो सकती है।

हम अक्सर यह सुनते हैं कि धर्म बराबरी सिखाता है, इसलिए समाज के भीतर कोई ऊँच-नीच हो ही नहीं सकती। मज़हबी आदर्श अपनी जगह बहुत अहम है। मगर सामाजिक व्यवहार की जाँच आदर्श का हवाला देकर बंद नहीं की जा सकती। शादी, रिश्तेदारी, मोहल्ले की हैसियत और सार्वजनिक नेतृत्व में कौन पीछे रखा गया, इसका जवाब लोगों के अनुभव से भी लेना होगा। पिछड़े मुस्लिम समुदायों की चर्चा इसी जगह से शुरू होती है। यह सवाल है कि मेहनत करने वाले कौन से तबके तालीम और अवसर में पीछे रहे, और उन्हें आगे आने की व्यवस्था कितनी मिली। इसमें गरीबी की बात है, मगर सिर्फ़ गरीबी की बात नहीं। सामाजिक हैसियत, पुराना पेशा, पढ़ाई तक पहुँच और प्रतिनिधित्व की कमी भी अहम हो सकते हैं।

पसमांदा शब्द पीछे रह गए लोगों की तरफ़ ध्यान खींचने के लिए इस्तेमाल होता है। यह सामाजिक और राजनीतिक बातचीत का शब्द है। इसे अपने आप किसी सरकारी प्रमाणपत्र या पूरे देश की एक समान कानूनी सूची के बराबर नहीं मानना चाहिए। कानूनी पात्रता संबंधित सूची और नियम से तय होगी।

हमारी कोशिश यह रहेगी कि किसी बिरादरी का नाम लेकर उसे छोटा न करें और उसके पिछड़ेपन की बात भी दबाएँ नहीं। जिस आदमी के हाथ से कपड़ा तैयार होता है, जिसके औज़ार से सामान बनता है, जिसकी मेहनत से घर चलते हैं, उसे तालीम और सम्मान का मौका मिलना चाहिए। बराबरी की आवाज़ तभी पूरी होगी जब समुदाय अपने भीतर भी उन लोगों को जगह दे जिनकी मेहनत बहुत है और सार्वजनिक सुनवाई कम। बराबरी की बात में इसी आदमी का चेहरा साफ़ दिखाई देना हमारी ज़िम्मेदारी है।

आरक्षण की चर्चा शुरू होते ही यह वाक्य सुनाई देता है कि गरीब है तो आरक्षण क्यों नहीं? यह सवाल दुख से निकलता है, इसलिए उसकी इज़्ज़त करनी चाहिए। लेकिन अलग आरक्षण व्यवस्थाओं का आधार एक जैसा नहीं है। सामाजिक और तालीमी पिछड़ापन, सरकारी सेवाओं में काफ़ी प्रतिनिधित्व का अभाव, अनुसूचित पहचान और आर्थिक कमज़ोरी अलग प्रावधानों में अलग तरह से सामने आते हैं।

संविधान में अनुच्छेद 15 और 16 के अंतर्गत विशेष प्रावधानों के रास्ते बने हैं। उनका मतलब यह है कि सिर्फ़ खुला दरवाज़ा घोषित कर देना हमेशा काफ़ी नहीं। जिन समूहों के सामने पुरानी और गहरी बाधाएँ रही हों, उनके अवसर के लिए विशेष उपाय की ज़रूरत हो सकती है। इस बात को समझे बिना आरक्षण को सिर्फ़ एहसान या किसी का हिस्सा छीनने की भाषा में देखना ठीक नहीं।

एक उदाहरण से बात साफ़ होती है। दो बच्चे परीक्षा देते हैं। एक के पास अच्छा स्कूल, शांत कमरा, किताबें और मार्गदर्शन है। दूसरा मजदूरी के बीच पढ़ता है, स्कूल में शिक्षक कम हैं और परिवार में किसी ने कॉलेज नहीं देखा। अंतिम अंक अहम हैं, लेकिन उनके पीछे मौजूद रास्ते भी समझने होंगे। सामाजिक नीति इसी असमान शुरुआत को नज़र में रखती है। इससे यह नहीं निकलता कि पढ़ाई और योग्यता का कोई महत्व नहीं। बल्कि नीति का मक़सद यह होना चाहिए कि हुनर जन्म और सामाजिक हैसियत की दीवार में बंद न रह जाए। अच्छे विद्यालय, आर्थिक सहायता और निष्पक्ष चयन के साथ आरक्षण के सवाल को देखना ज़्यादा उपयोगी है। अकेले एक उपाय सारी असमानता दूर नहीं करेगा।

मुस्लिम नागरिक के लिए भी अधिकार का रास्ता धर्म का नाम भर नहीं, संबंधित कानूनी पात्रता है। अगर वह किसी मान्य पिछड़े वर्ग से आता है तो उस आधार पर उसकी पात्रता देखी जाएगी। अगर आर्थिक श्रेणी का सवाल है तो उसके अपने नियम होंगे। चर्चा में इन रास्तों को मिलाकर कह देना कि मुसलमान को सब मिलता है या कुछ भी नहीं मिलता, दोनों तरह की गलतफहमी फैलाता है। सही जानकारी ही पूरे समाज को अपनी माँग ठीक ढंग से रखने की ताक़त देती है।

अन्य पिछड़ा वर्ग, जिसे आम बोलचाल में OBC कहा जाता है, की सूची में कई मुस्लिम समुदाय शामिल हैं। इसका मतलब यह नहीं कि मुसलमान होना अपने आप OBC होने का सबूत है। और इसका मतलब यह भी नहीं कि मज़हबी अल्पसंख्यक होने के कारण किसी मुस्लिम समुदाय के लिए पिछड़े वर्ग का रास्ता बंद है। दोनों बातों को साफ़ समझना ज़रूरी है।

सूची में नाम उस सामाजिक पहचान और संबंधित क्षेत्र के अनुसार देखा जाता है जिसके लिए प्रविष्टि बनी है। कई जगह किसी समुदाय के दूसरे नाम, उपसमूह या स्थानीय पहचान भी दर्ज होती है। इसलिए सिर्फ़ किसी पड़ोसी का प्रमाणपत्र देखकर अपनी पात्रता तय करना ठीक नहीं। अपना राज्य, सूची और दर्ज नाम मिलाना पड़ता है।

केंद्र की नौकरी या केंद्रीय व्यवस्था में प्रवेश के लिए केंद्रीय सूची की ज़रूरत हो सकती है। राज्य की नौकरी या राज्य के संस्थान में राज्य की सूची और नियम लागू हो सकते हैं। एक सूची में नाम होना दूसरे में अपने आप नाम होने के बराबर नहीं। यही छोटी दिखने वाली बात कई युवाओं को आवेदन के समय बड़ी मुश्किल में डाल देती है। मान लीजिए किसी परिवार का लड़का पहली बार प्रतियोगी परीक्षा भर रहा है। वह अपने समुदाय का आम नाम जानता है, सरकारी प्रविष्टि नहीं। समय पर मदद मिले तो वह सही प्रमाणपत्र और पात्रता की स्थिति समझ सकता है। अंतिम तारीख के बाद गलती मालूम हो तो उसका नुकसान कई महीनों की पढ़ाई पर पड़ सकता है। जानकारी की कमी भी अवसर रोकती है।

यहाँ सामाजिक संगठनों को ज़िम्मेदार काम करना चाहिए। वे नई सरकारी सूची पढ़ने में मदद दें, स्थानीय बोलचाल और सरकारी नाम का संबंध समझाएँ और अधिकारी से ज़रूरी जानकारी दिलाएँ। लेकिन किसी को पात्र बनाने के लिए गलत पहचान सुझाना उचित नहीं। कमज़ोर तबकों के लिए बनी व्यवस्था का भरोसा सही सबूत पर टिका है। पात्र व्यक्ति को उसका लाभ मिले और अपात्र व्यक्ति गलत रास्ते से उसे न ले, दोनों बातें सामाजिक इंसाफ़ की हिफ़ाज़त करती हैं। अधिकार और ईमानदारी को अलग करके कोई स्थायी सम्मान हासिल नहीं किया जा सकता।

केंद्रीय और राज्य सूची के फ़र्क को थोड़ा और ठहरकर समझना चाहिए। हिंदुस्तान में समाज की बनावट हर प्रदेश में एक जैसी नहीं। कोई समूह एक जगह ज़्यादा मज़बूत हो सकता है और दूसरी जगह पीछे। इसलिए पिछड़ेपन की पहचान में क्षेत्र का महत्व है। सूचियाँ ऐतिहासिक सामाजिक जानकारी और कानूनी प्रक्रिया से बनती हैं; सिर्फ़ नाम की समानता से उनकी स्थिति तय नहीं होती।

इस विषय में दो संवैधानिक बदलाव अहम हैं। 102वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2018 से राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग को संवैधानिक दर्जा मिला। इसके बाद 105वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2021 ने राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों की अपने प्रयोजनों के लिए सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्गों की सूची बनाने और बनाए रखने की शक्ति स्पष्ट की। इसलिए केंद्रीय सूची और राज्य की सूची को एक नहीं समझना चाहिए। किसी आवेदन में कौन सी सूची लागू होगी, यह संबंधित भर्ती या प्रवेश के नियमों से तय होगा।

किसी समुदाय की सूची में शामिल होने की माँग उठाना भी एक सार्वजनिक काम है। उसमें तालीम, सामाजिक स्थिति, पेशे, अवसर और प्रतिनिधित्व से जुड़े तथ्य जुटाने पड़ते हैं। सिर्फ़ बड़ी रैली या नेताओं की सहमति से कानूनी नतीजा मान लेना ठीक नहीं। प्रक्रिया, संबंधित आयोग और सक्षम सरकार की भूमिका समझनी होगी। अगर समाज को लगता है कि उसका कोई तबका छुट गया है, तो उसकी बात सम्मान से सुनी जानी चाहिए। साथ ही माँग को पुख्ता सबूत से मज़बूत करना होगा। कौन से परिवार पीछे हैं, स्कूल छोड़ने की हालत क्या है, पेशागत बदलाव कितना हुआ और अवसर की बाधा कहाँ है? ऐसी जानकारी चर्चा को सिर्फ़ भावनात्मक अपील से आगे ले जाती है।

लेकिन तथ्य जुटाने के नाम पर गरीब परिवार की निजी जानकारी खुले में न डालें। सर्वे में व्यक्ति की सहमति, साफ़ मक़सद और सम्मान ज़रूरी है। पिछड़ेपन का अध्ययन आदमी को नीचा दिखाने के लिए नहीं होता। उसका मक़सद उन बाधाओं को पहचानना है जिन्हें दूर करने से अगली पीढ़ी की राह खुलेगी। यही फ़र्क ज़िम्मेदार सामाजिक काम और सिर्फ़ बिरादरी के नाम पर राजनीति के बीच दिखाई देता है। हम अपना हक माँगें, मगर अपनी माँग में उन लोगों की ज़िंदगी का पूरा लिहाज रखें जिनके नाम पर बात कही जा रही है।

OBC आरक्षण की पात्रता में क्रीमी लेयर का सवाल अहम है। यह उस काफ़ी आगे बढ़े हिस्से से जुड़ा है जिसे संबंधित नियमों के अनुसार आरक्षण लाभ से बाहर रखा जाता है। लेकिन इसे सिर्फ़ घर की कुल आमदनी का एक आसान जोड़ समझ लेना गलती पैदा कर सकता है। लागू नियम में माता-पिता की नौकरी की स्थिति और अन्य शर्तें महत्व रख सकती हैं।

इसी कारण हम किसी पुरानी इंटरनेट तस्वीर में लिखी आयसीमा को हर आवेदन का पूरा कानून नहीं मान सकते। संबंधित भर्ती या प्रवेश की सूचना, प्रमाणपत्र का तय रूप और मौजूदा सरकारी निर्देश देखना चाहिए। आय का साल, प्रमाणपत्र की तारीख और पात्रता बताने का तरीका अलग शर्तों से जुड़ सकते हैं। युवा को यह काम समय रहते समझना होगा। एक परिवार में कमाने वाला व्यक्ति कभी नियमित नौकरी करता है, कभी छोटा कारोबार। आमदनी के स्रोत और सरकारी नियम में उनकी गिनती का सवाल आसान बातचीत से ज़्यादा जटिल हो सकता है। ऐसे मामले में सक्षम प्रमाणपत्र अधिकारी या जानकार सहायता से सही स्थिति साफ़ करानी चाहिए। अनुमान के भरोसे गलत घोषणा करना आगे नुकसान पहुँचा सकता है।

यह व्यवस्था सामाजिक इंसाफ़ के भीतर एक दूसरा सवाल भी उठाती है। जो अवसर मिले, क्या उनका लाभ लगातार सिर्फ़ अपेक्षाकृत आगे बढ़े परिवारों तक पहुँच रहा है? क्या पीछे रह गए लोग परीक्षा और प्रवेश की तैयारी तक पहुँच पा रहे हैं? नियम अपनी जगह हैं, लेकिन समाज को तालीम और मार्गदर्शन की असमान पहुँच पर भी ध्यान देना होगा।

क्रीमी लेयर की चर्चा में किसी परिवार की सफलता से जलना उपयोगी नहीं। मेहनत से आगे बढ़ना अच्छी बात है। साथ ही कमज़ोर लोगों के लिए बने लाभ की दिशा बनी रहे, यह ज़रूरी है। हमें ऐसी बातचीत चाहिए जिसमें आगे आए परिवार ज़िम्मेदारी से नियम मानें और पीछे रह गए परिवारों को पढ़ाई का सहारा दें। समुदाय का विकास कुछ घरों की खुशहाली से पूरा नहीं हो जाता। वह तब व्यापक होता है जब अच्छी तालीम और अवसर का रास्ता उन गलियों में भी खुलता है जहाँ पहले सिर्फ़ मजदूरी की तैयारी मिलती थी।

अनुसूचित जाति का सवाल OBC से अलग है। संविधान के अंतर्गत अनुसूचित जातियों की पहचान संबंधित अधिसूचित आदेश और उसकी सूची से जुड़ी है। संविधान (अनुसूचित जातियाँ) आदेश, 1950 के पैरा 3 के अनुसार हिंदू, सिख या बौद्ध धर्म से अलग कोई धर्म मानने वाला व्यक्ति अनुसूचित जाति का सदस्य नहीं माना जाएगा। इसलिए केवल सामाजिक पिछड़ापन या किसी समुदाय के लिए दलित शब्द का इस्तेमाल अपने आप अनुसूचित जाति की कानूनी पात्रता नहीं बनाता। मुस्लिम और ईसाई समुदायों को इस दायरे में शामिल करने की माँग से जुड़ी बहस का केंद्रीय बिंदु यही मज़हबी शर्त है।

इस बात को साफ़ कहना चाहिए ताकि पाठक गलत भरोसे में न रहे। सामाजिक बातचीत में किसी समूह के लिए दलित शब्द इस्तेमाल होने और सरकारी अनुसूचित जाति पात्रता मिलने में फ़र्क़ है। कोई समुदाय अपने इतिहास में अपमान, अलगाव या नीचा समझे जाने का अनुभव बता सकता है। फिर भी कानूनी लाभ की स्थिति मौजूदा आदेश से अलग तय नहीं की जा सकती।

साथ ही कानून की मौजूदा स्थिति बताना उसके पक्ष या विपक्ष में अंतिम नैतिक फैसला नहीं है। लोग यह सवाल उठा सकते हैं कि धर्म बदलने से पुरानी सामाजिक वंचना खत्म होती है या नहीं। अगर वह बनी रहती है तो नीति को उसे कैसे देखना चाहिए? यह बहस सामाजिक अध्ययन, संवैधानिक तर्क और सार्वजनिक निर्णय से जुड़ती है। इस सवाल पर मुस्लिम समाज के भीतर भी संवेदनशीलता चाहिए। यह कहना कि हमारे यहाँ ऐसा कोई भेद है ही नहीं, उन लोगों के अनुभव को चुप करा सकता है जो उसे झेलते आए हैं। दूसरी तरफ़ हर गरीब मुसलमान को उसी सामाजिक इतिहास का हिस्सा मान लेना भी ठीक नहीं। समूहों का असल अनुभव सुनना और तथ्य देखना ज़रूरी है।

हमारे सामने दो ज़िम्मेदारियाँ साथ हैं। पहली, मौजूदा कानूनी सीमा को ईमानदारी से बताना। दूसरी, उस सीमा से जुड़े इंसाफ़ के सवाल को सम्मान के साथ चर्चा में रखना। न लाभ का झूठा वादा किया जाए, न सवाल पूछने वाले को अपमानित किया जाए। एक लोकतांत्रिक समाज में कानून की जानकारी और कानून में बदलाव की माँग दोनों संभव हैं। मगर जब तक बदलाव वैधानिक रूप से न हो, माँग को मिला अधिकार बताना नागरिक को मुश्किल में डाल सकता है। इस फ़र्क़ का लिहाज रखें।

धर्म और अनुसूचित जाति का संबंध सिर्फ भावनात्मक बहस नहीं है। उसके पीछे यह सवाल है कि सामाजिक अपमान की जड़ कहाँ है। क्या व्यक्ति की नई मज़हबी पहचान उसे पुरानी पेशागत और बिरादरी पहचान से पूरी तरह आज़ाद कर देती है? या समाज उसे पुराने नाम और हैसियत से ही देखता रहता है? इसका जवाब हर जगह पहले से तय मान लेना अध्ययन की ज़रूरत मिटा देगा।

कुछ लोग मज़हबी शर्त हटाने की माँग को सामाजिक इंसाफ़ का सवाल कहते हैं। दूसरे लोग मौजूदा व्यवस्था, उसके ऐतिहासिक आधार और संभावित असर पर आपत्ति उठाते हैं। एक संजीदा चर्चा में दोनों पक्षों के तर्क ठीक तरह से पढ़े जाने चाहिए। लेकिन सबसे ज़्यादा ध्यान उन लोगों की ज़िंदगी पर होना चाहिए जिनके बारे में बहस हो रही है। उनके अनुभव के बिना चर्चा सिर्फ़ नेताओं की आवाज़ बन जाएगी।

हम कानून में बदलाव की माँग और अदालत के अंतिम निर्णय के बीच अंतर भी रखें। कोई याचिका दाखिल हो जाए, किसी आयोग से अध्ययन कराया जाए या कोई नेता समर्थन कर दे, तो उससे कानून तुरंत नहीं बदल जाता। जब तक सक्षम प्रक्रिया से साफ़ नतीजा न आए, नागरिक को मौजूदा व्यवस्था ही बतानी होगी। आगे की संभावना को मौजूदा पात्रता बनाकर लिखना ठीक नहीं।

इस बहस का एक नैतिक पक्ष समुदाय के भीतर भी है। अगर कोई व्यक्ति समाज में नीचे रखा जाता है तो सिर्फ़ सरकार से इंसाफ़ माँगना काफी नहीं। रिश्ते, सार्वजनिक नेतृत्व और सम्मान के व्यवहार में भी सुधार चाहिए। एक ही भोजन में बैठने, बराबर बात सुनने और मेहनतकश परिवारों को निर्णय में जगह देने का सवाल हमारे अपने घर तक आता है। हम संविधान से बराबरी माँगते हुए अपनी सामाजिक आदतों को उससे बाहर नहीं रख सकते। मज़हबी तालीम का बराबरी वाला संदेश व्यवहार में दिखे तभी उसकी बात मज़बूत होती है। जिस आदमी का दुख हम सरकार के सामने रखते हैं, अपने बीच उसकी इज़ज़त भी वैसी ही होनी चाहिए। सामाजिक इंसाफ़ बाहर की व्यवस्था बदलने का नाम है, लेकिन अपने भीतर मौजूद दूरी मिटाने की ज़िम्मेदारी से वह हमें मुक्त नहीं करता।

अनुसूचित जनजाति की कानूनी व्यवस्था को अनुसूचित जाति के मज़हबी प्रावधान से मिलाना ठीक नहीं। दोनों की सूची, पहचान और संवैधानिक आधार अलग हैं। किसी मुस्लिम नागरिक की जनजातीय पात्रता संबंधित अधिसूचित समूह और क्षेत्र के अनुसार देखी जाएगी। यह कहना कि मुसलमान होने से हर अनुसूचित श्रेणी का रास्ता बंद है, गलत होगा। हर श्रेणी का अपना लागू नियम पढ़ना ज़रूरी है।

इसी तरह आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग, जिसे EWS कहते हैं, की व्यवस्था अलग है। यह संविधान में बाद के संशोधन से बनी आर्थिक आधार की व्यवस्था है। इसमें संबंधित नियमों के अनुसार पहले से आरक्षण वाली श्रेणियों में आने वाले समूहों का सवाल अलग रखा गया है। किसी मुस्लिम व्यक्ति की पात्रता उसके धर्म मात्र से तय नहीं होगी; लागू आर्थिक और अन्य शर्तें देखी जाएँगी।

यहाँ बहुत सावधानी से बात करनी चाहिए। कोई व्यक्ति गरीब है, तो उसे हर श्रेणी में विकल्प चुन लेने का अधिकार अपने आप नहीं मिलता। वह वास्तव में जिस कानूनी स्थिति में आता है, उसी के अनुसार आवेदन करेगा। अलग प्रमाणपत्रों को सुविधा के हिसाब से अदल-बदल करना उचित रास्ता नहीं। पात्रता की सही समझ मेहनत से कमाए अवसर की रक्षा करती है। इन बातों का अमली मतलब यह है कि मुस्लिम युवाओं को सिर्फ़ अल्पसंख्यक छात्रवृत्ति की जानकारी देकर छोड़ना अधूरा मार्गदर्शन है। वे आम प्रतियोगिताओं, लागू पिछड़ा वर्ग व्यवस्था, पात्र आर्थिक सहायता और दूसरी सार्वजनिक योजनाओं में भी अपना रास्ता देख सकते हैं। नागरिक का अवसर किसी एक मंत्रालय की सूची में बंद नहीं होना चाहिए।

हमारे मोहल्लों में जानकारी कई बार आधी पहुँचती है। कोई कहता है मुस्लिम के लिए सब बंद है, कोई कहता है एक कागज़ बना लो तो सब खुल जाएगा। दोनों बातें युवा को भटकाती हैं। सही मदद यह है कि उसकी पढ़ाई, सामाजिक श्रेणी, परिवार की स्थिति और इच्छित आवेदन को साथ देखा जाए। फिर आधिकारिक सूचना से पात्रता साफ़ की जाए। कानून का सरल मतलब समझाना बहुत बड़ी सेवा है, बशर्ते सरल करने के चक्कर में उसकी ज़रूरी शर्तें गायब न कर दी जाएँ। मदद से ऐसा भ्रम बढ़ना नहीं चाहिए।

आरक्षण का प्रमाणपत्र किसी नौजवान के हाथ में आ जाए तो काम पूरा नहीं हो जाता। उसे परीक्षा की तैयारी, अच्छे संस्थान की जानकारी और प्रवेश के खर्च की ज़रूरत भी होती है। कई परिवारों में पात्रता मौजूद है, लेकिन लड़का या लड़की आवेदन तक नहीं पहुँचते। कभी घर की कमाई कम है, कभी पढ़ाई का आधार कमज़ोर है, कभी आगे का रास्ता समझाने वाला कोई नहीं।

इसलिए सामाजिक इंसाफ़ की चर्चा विद्यालय से शुरू होनी चाहिए। पढ़ना, लिखना, गणित और समझकर जवाब देना मज़बूत होगा तो आगे की प्रतियोगिता में आत्मविश्वास आएगा। कमज़ोर स्कूल को छोड़कर सिर्फ़ कॉलेज के आरक्षण पर बहस करना अधूरा काम है। बच्चे की शुरुआती तैयारी में जो कमी रह गई, वह बाद में बहुत भारी पड़ सकती है। मुस्लिम बस्तियों में पढ़े हुए लोग छोटे अध्ययन केंद्र बना सकते हैं। वहाँ सरकारी सूचना समझाई जाए, किताबें साझा हों और बिना महँगी फीस के पढ़ाई का सहारा मिले। यह कोई नया कानूनी लाभ नहीं, समाज की अपनी ज़िम्मेदारी है। जिस घर से पहली लड़की कॉलेज जा रही हो, उसके लिए आसपास का भरोसा भी बहुत अहम होता है।

मार्गदर्शन में लड़कियों को बराबर जगह दें। कई बार परिवार लड़के के प्रमाणपत्र और तैयारी में जल्दी करता है, लड़की की पढ़ाई को थोड़े समय का काम समझता है। यह नाइंसाफी सिर्फ़ उसकी निजी ज़िंदगी को नहीं रोकती। घर की अगली पीढ़ी का शिक्षित वातावरण भी प्रभावित होता है। अवसर की माँग करते हुए अपने बच्चों में भेद रखना हमारी बात कमज़ोर करता है।

किसी युवा को सिर्फ़ सरकारी नौकरी की एक परीक्षा से अपना भविष्य नहीं बाँधना चाहिए। उच्च तालीम, निजी रोज़गार, पेशेवर प्रशिक्षण और अपने कारोबार के रास्ते भी हैं। आरक्षण अहम अवसर व्यवस्था है, पूरी जीवन योजना नहीं। समाज का काम यह होना चाहिए कि पात्रता का सही लाभ लेने के साथ बच्चे को पूरी तैयारी मिले। तब वह एक नतीजा खराब होने पर टूटेगा नहीं। उसके सामने दूसरा रास्ता होगा, नया कौशल होगा और अपनी मेहनत आगे बढ़ाने का भरोसा होगा। यही सहारा कागज़ के अधिकार को जीवन की संभावना में बदलता है।

आरक्षण पर राजनीति होनी स्वाभाविक है, क्योंकि वह अवसर और सामाजिक हिस्सेदारी का सवाल है। लेकिन राजनीति जब तथ्य छोड़ देती है तो वही सवाल लोगों को एक दूसरे के खिलाफ खड़ा करने का साधन बन जाता है। किसी समुदाय का हर व्यक्ति लाभार्थी है, या किसी दूसरे समुदाय का हर व्यक्ति उससे नुकसान में है, ऐसी भाषा असल व्यवस्था को समझने नहीं देती।

हम सार्वजनिक बहस में कुछ साफ़ आदतें बना सकते हैं। किस सूची की बात है, किस सरकार की व्यवस्था है, कौन सी भर्ती या प्रवेश है और संबंधित तारीख क्या है? इन सवालों के बिना प्रतिशत और समुदाय के नाम जोड़ देना भ्रम बढ़ाएगा। आँकड़ा सही भी हो तो उसका संदर्भ गलत होने से नतीजा गलत निकल सकता है।

एक और ज़िम्मेदारी है। पिछड़े मुस्लिम समुदायों की चर्चा को सिर्फ़ चुनाव के दिनों में याद न किया जाए। उनके स्कूल, रोज़गार, सामाजिक सम्मान और स्थानीय नेतृत्व पर लगातार बात होनी चाहिए। अगर कोई संगठन पीछे रह गए लोगों की आवाज़ बनने का दावा करता है तो उसके अपने निर्णयों में वे लोग कितने शामिल हैं, यह भी पूछा जाएगा। उनकी आवाज़ का मतलब सिर्फ़ मंच पर किसी व्यक्ति को खड़ा कर देना नहीं। क्या महिलाएँ बोल सकती हैं? क्या मजदूर अपनी असहमति रख सकता है? क्या कम पढ़े सदस्य को बैठक की बात समझाई जाती है? प्रतिनिधित्व तभी कारगर बनता है जब समुदाय के नाम पर निर्णय करने वाले लोग समुदाय के भीतर भी जवाब देते हों।

हमें ऐसे नौजवान चाहिए जो अपनी बिरादरी की इज़ज़त करते हुए पूरे समाज का हित समझें। अधिकार की माँग में दूसरों के प्रति नफ़रत ज़रूरी नहीं है। अपनी वंचना के तथ्य रखिए, नीति की कमी बताइए और सुधार का रास्ता माँगिए। इस तरह बात ज़्यादा मज़बूत होगी। किसी गरीब की तकलीफ़ को दूसरे गरीब के खिलाफ़ गुस्से में बदल देना इंसान की मंजिल नहीं। एक लोकतंत्र की अच्छाई यही है कि अलग समूह अपनी अपनी परेशानी बता सकें और फिर भी सबके लिए तालीम, रोज़गार तथा सम्मान की साझा ज़िम्मेदारी को कायम रख सकें। ऐसी समझ से रास्ते खुलेंगे।

इस अध्याय में हमने देखा कि मुस्लिम समाज के भीतर के फ़र्क़ को समझें बिना हिस्सेदारी का सवाल पूरा नहीं होता। मज़हबी पहचान अपनी जगह पर है, लेकिन सामाजिक पिछड़ापन और कानूनी श्रेणी का सवाल अलग जाँच माँगता है। OBC, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग की व्यवस्थाओं को एक ही नाम देकर नहीं समझा जा सकता।

मौजूदा अनुसूचित जाति आदेश की मज़हबी सीमा साफ़ है। उसके बारे में उठ रहे इंसानों के सवाल भी अहम हैं। इन दोनों बातों को साथ रखकर बोलना ही ईमानदार रास्ता है। कानून की मौजूदा स्थिति छिपाना उचित नहीं, और जिन लोगों की सामाजिक वंचना पर बहस है, उनकी आवाज़ दबाना भी उचित नहीं।

पिछड़े मुस्लिम समुदायों के लिए सबसे उपयोगी काम सही सूची, सही प्रमाणपत्र और उपलब्ध अवसर की जानकारी पहुँचाना है। उससे आगे स्कूल, मार्गदर्शन और सामाजिक सम्मान पर मेहनत ज़रूरी है। सिर्फ़ कानूनी श्रेणी में नाम आने से हर घर की हालत नहीं बदलती। उस रास्ते पर चलने की तैयारी और साधन भी चाहिए। हमने यह भी समझा कि समुदाय की बराबरी की बात अपने भीतर की ज़िम्मेदारी माँगती है। मेहनतकश परिवारों को नेतृत्व में जगह देना, महिलाओं को बोलने देना और पिछड़ेपन को शर्म की तरह न पेश करना, ये सामाजिक व्यवहार के काम हैं। सरकार से अपेक्षा रखकर अपने हिस्से का काम छोड़ देना विकास का पूरा रास्ता नहीं है।

अब अगला सवाल सामने आता है। मुस्लिम समाज की स्थिति का ऐसा अध्ययन क्या हुआ जिसने इन अलग अनुभवों को आँकड़ों और सरकारी व्यवस्था के साथ जोड़ा? सच्चर समिति इसी सवाल में खास जगह रखती है। उसकी रिपोर्ट ने पढ़ाई, रोज़गार, बैंकिंग और सार्वजनिक संस्थाओं तक पहुँच को राष्ट्रीय चर्चा में लाया। लेकिन रिपोर्ट को आज पढ़ते समय उसकी तारीख और उसके बाद की कार्यवाही देखना ज़रूरी है। आगे के पन्नों में हम इसी फ़र्क़ को समझेंगे। पुरानी रिपोर्ट से सीखेंगे, उसके नतीजे को उसी समय के संदर्भ में रखेंगे, और देखेंगे कि सरकारी कदमों की जाँच किन सवालों पर की जानी चाहिए। हिस्सेदारी का सवाल अब अध्ययन और सार्वजनिक अमल के सामने भी जाएगा।

अध्याय 15 – सच्चर समिति ने क्या पाया और सरकारों ने उसके बाद क्या किया

किसी समाज के बारे में बहुत कुछ कहा जाता है। कभी कहा जाता है कि वह खुद आगे नहीं आना चाहता, कभी कहा जाता है कि उसके लिए सारे रास्ते बंद हैं। इन दोनों वाक्यों के बीच लोगों की असल ज़िंदगी छूट जाती है। सच्चर समिति का महत्व इस बात में था कि उसने मुस्लिम समाज की सामाजिक, आर्थिक और तालीमी हालत को बारीक अध्ययन का विषय बनाया।

न्यायमूर्ति राजिंदर सच्चर की अध्यक्षता में बनी उच्चस्तरीय समिति की रिपोर्ट नवंबर 2006 की है। इसे उस समय के आँकड़ों और उसके सामने आए अनुभवों के संदर्भ में पढ़ना होगा। रिपोर्ट का आज भी महत्व है, लेकिन उसमें दर्ज पुरानी संख्या को 2026 की मौजूदा संख्या बताना सही नहीं। समय के साथ समाज, योजनाएँ और उपलब्ध जानकारी बदलती हैं।

उस रिपोर्ट ने चर्चा का केंद्र सिर्फ़ मज़हबी पहचान नहीं रखा। तालीम, रोज़गार, सरकारी संस्थाओं, वित्तीय सुविधा और सामाजिक अवसर तक पहुँच सामने आई। इससे एक अहम बात मज़बूत हुई कि मुस्लिम नागरिक का सवाल सिर्फ़ मज़हबी विवाद का सवाल नहीं। वह पढ़ाई, कमाई, सुरक्षा और सम्मान का भी सवाल है। बाकी नागरिकों की तरह उसके घर को भी यही ज़रूरी चीज़ें चाहिए। एक पिता अपने बच्चे की फीस भरने की चिंता करता है तो वह राष्ट्रीय बहस की बड़ी भाषा में नहीं सोचता। एक नौजवान काम ढूँढता है तो उसके लिए पहचान के साथ योग्यता और उपलब्ध अवसर भी मायने रखते हैं। एक महिला पढ़ाई जारी रखना चाहती है तो स्कूल का रास्ता और घर की ज़िम्मेदारी भी उसके सामने होती है। रिपोर्ट के बाद की चर्चा को इन हालात से जोड़ना ज़रूरी है।

हमें समिति का नाम सम्मान से लेते हुए उसके हर नतीजे को संदर्भ सहित पढ़ना चाहिए। वह मुस्लिम समाज पर अंतिम और हमेशा के लिए कायम फैसला नहीं है। वह एक गंभीर अध्ययन है जिसने सवालों को ज़्यादा साफ़ बनाया। उसका बेहतर इस्तेमाल यही होगा कि हम पुराने नतीजे से सीखें, नई जानकारी माँगें और सरकार तथा समाज दोनों के काम को जाँचने की आदत बनाएँ। तभी रिपोर्ट इतिहास की अलमारी से निकलकर सार्वजनिक सुधार का आधार बनेगी।

रिपोर्ट पढ़ने का पहला नियम है कि आँकड़े की उम्र समझें। जनगणना, सर्वेक्षण और विभागीय रिकॉर्ड अलग वर्षों के हो सकते हैं। रिपोर्ट 2006 में आई तो उसमें मौजूद हर संख्या उसी वर्ष की नहीं होगी। कभी आधार 2001 की जनगणना है, कभी अलग समय का सर्वेक्षण। यह फ़र्क़ छोटा लगता है, मगर सार्वजनिक नतीजे में अहम है।

सच्चर समिति की रिपोर्ट में 2001 की जनगणना के आधार पर मुसलमानों की साक्षरता दर लगभग 59.1 प्रतिशत बताई गई। शिक्षा मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2013-14 में भी इसी जनगणना के आधार पर यह दर दर्ज है। यह 2001 की स्थिति है, आज की साक्षरता दर नहीं। इसलिए संख्या के साथ उसका वर्ष याद रखना ज़रूरी है। पढ़ना-लिखना जानना, स्कूल में टिके रहना और अच्छी उच्च तालीम तक पहुँचना अलग अवस्थाएँ हैं। एक संख्या पूरी तालीम की कहानी नहीं सुनाती।

इसी तरह किसी नौकरी में हिस्सेदारी की जानकारी तभी समझ आएगी जब पद, विभाग, समूह और गिनती का आधार साफ़ हो। सभी सरकारी कर्मचारियों का आँकड़ा और किसी एक बड़ी सेवा का आँकड़ा एक जैसा नहीं। आबादी के अनुपात से तुलना उपयोगी हो सकती है, लेकिन भर्ती की अवधि, पात्रता और उपलब्ध उम्मीदवार की स्थिति भी देखनी होगी। हमारी बहस में अक्सर यही संदर्भ खो जाता है। पुराना आँकड़ा एक तस्वीर में घूमता रहता है और लोग उसे मौजूदा सच मान लेते हैं। इससे परेशानी का सवाल कमज़ोर पड़ता है। कोई उसकी तारीख़ दिखाकर पूरी चिंता को ही खारिज कर देता है। जबकि सही बात यह होती कि पुरानी स्थिति ने समस्या दिखाई थी, अब नई स्थिति की जानकारी चाहिए।

आँकड़े से इज़्ज़त या बेइज़्ज़ती तय नहीं होती। वह समाज को उसकी बाधा समझने में मदद देता है। अगर कोई समुदाय तालीम में पीछे दिखे तो यह उस समुदाय की बुद्धि पर टिप्पणी नहीं। हमें स्कूल, आय, मार्गदर्शन और सामाजिक अवसर देखना होगा। संख्या को इलज़ाम लगाने के लिए इस्तेमाल करना आसान है; उससे सुधार का रास्ता निकालना ज़िम्मेदार काम है। हमारी कोशिश दूसरे काम की होनी चाहिए। जिस आँकड़े से दुख सामने आता है, उसी से बेहतर योजना और अगली पीढ़ी के लिए मज़बूत सार्वजनिक सुविधा का सवाल भी निकलना चाहिए। यही फ़र्क़ संख्या की बहस को जीवन से जोड़ेगा।

तालीम की कमी सिर्फ बच्चे की इच्छा की कमी नहीं होती। किसी घर में पहली बार पढ़ने वाला बच्चा कई मुश्किलें झेलता है जो शिक्षित परिवार को दिखाई नहीं देतीं। उसे फ़ॉर्म कौन समझाए, विषय कौन चुनवाए, परीक्षा की तैयारी कैसे हो और आगे पढ़ने से कौन सा काम मिलेगा? इन सवालों का जवाब न मिले तो पढ़ाई बीच में टूट सकती है।

सच्चर समिति के बाद मुस्लिम तालीम की चर्चा में पहुँच और अवसर का सवाल ज़्यादा सामने आया। हम इसे अपने आसपास देखें तो कई ठोस बातें निकलती हैं। विद्यालय की दूरी, शिक्षक की उपलब्धता, घर की आमदनी और पढ़ाई का खर्च एक दूसरे से जुड़े हैं। किताब मिल जाए तो भी नियमित सीखने का वातावरण अपने आप नहीं बनता।

किसी बच्चे को मजदूरी में लगाना परिवार की खुशी नहीं मान लेनी चाहिए। कई बार घर का खर्च उसे जल्दी कमाने को धकेलता है। इससे गरीबी और कम पढ़ाई का चक्र बनता है। इस चक्र को तोड़ने के लिए विद्यालय की गुणवत्ता के साथ परिवार को टिकने का सहारा भी ज़रूरी है। बच्चे को सिर्फ़ डाँट देने से वह सामाजिक हालत नहीं बदलेगी। भाषा का सवाल भी अहम है। शुरुआती तालीम में बच्चा समझ सके, यह आधार होना चाहिए। आगे उसे दूसरी भाषाओं, विज्ञान, गणित और आधुनिक ज्ञान तक मज़बूत पहुँच मिले। मातृभाषा से लगाव और व्यापक अवसर की तैयारी एक दूसरे के दुश्मन नहीं हैं। सही पढ़ाई दोनों को जोड़ सकती है।

मदरसे और आम विद्यालय की चर्चा भी सावधानी से हो। सारे मुस्लिम बच्चों को एक ही प्रकार के संस्थान में पढ़ता हुआ मान लेना गलत तस्वीर बनाता है। जहाँ मज़हबी तालीम है, वहाँ आगे की पढ़ाई और प्रमाणपत्र की मान्यता जैसे सवाल अपने संदर्भ में देखे जाएँ। जहाँ आम स्कूल है, वहाँ शिक्षक और गुणवत्ता का सवाल वही है जो दूसरे बच्चों के लिए है। हमारी तालीम की बहस किसी बच्चे पर पहचान का बोझ डालने के बजाय उसकी सीखने की पूरी असल ज़रूरत पर टिके। उसे अच्छा पढ़ने का मौका दीजिए, फिर उसके सपने को उसकी अपनी योग्यता और पसंद के साथ बढ़ने दीजिए।

मुस्लिम लड़कियों की तालीम पर बात करते हुए सिर्फ परिवार को दोष दे देना आसान है। परिवार की सोच में सुधार ज़रूरी हो सकता है, लेकिन बाहर की व्यवस्था का सवाल भी उतना ही अहम है। स्कूल दूर हो, सुरक्षित आवागमन न हो, शौचालय खराब हो या आगे के संस्थान का खर्च ज़्यादा हो, तो लड़की की पढ़ाई पर कई तरफ से दबाव आता है।

एक माँ भी अपनी बेटी को पढ़ाना चाहती है, फिर भी उसकी चिंता रास्ते और सुरक्षा पर रहती है। इस चिंता को तालीम के विरोध के बराबर रख देना सही नहीं। हमें देखना चाहिए कि उसकी चिंता कम करने के लिए सार्वजनिक सुविधा क्या है। पास का अच्छा विद्यालय, भरोसेमंद आवागमन और ज़रूरी सहायता असल फ़र्क ला सकते हैं।

साथ ही घर के भीतर ज़िम्मेदारी का बँटवारा भी देखें। लड़का पढ़ने बैठता है और लड़की छोटे भाई-बहन, पानी, खाना और सफाई में लगी रहती है, तो बराबरी के अवसर घर में ही कम हो जाते हैं। परिवार का प्यार तब पूरा होगा जब बेटी को भी नियमित पढ़ने का समय, किताब और आगे बढ़ने का भरोसा दिया जाए। लड़की की तालीम को सिर्फ भविष्य की माँ के रूप में उसकी उपयोगिता से न नापें। वह खुद एक नागरिक है। उसके ज्ञान, पेशे, आत्मविश्वास और अपने फैसले की कीमत अपनी है। समाज को उसकी पढ़ाई का सम्मान इसलिए भी करना चाहिए कि उसका जीवन उसी का है। यह बात तालीम की चर्चा को इंसानवादी बनाती है।

सच्चर के बाद की नीति की बहस में लड़कियों तक पहुँच का सवाल उठा। आज किसी योजना का मूल्यांकन करें तो देखें कि लाभ वास्तव में किन लड़कियों तक पहुँचा। कुल संख्या काफ़ी नहीं। पहली पीढ़ी की छात्रा, छोटे कस्बे की लड़की और गरीब परिवार की बेटी कहाँ खड़ी है? उनके लिए जानकारी और सहायता का रास्ता कितना आसान है? एक सफल छात्रा की कहानी प्रेरणा देती है, मगर नीति का काम उन अनेक लड़कियों तक पहुँचना भी है जिनकी कहानी अभी शुरू होने से पहले रुक गई। सुधार की असली परीक्षा उन्हीं बंद रास्तों को खोलने में है।

नवंबर 2006 की सच्चर समिति रिपोर्ट में दर्ज जानकारी के अनुसार मुसलमानों की हिस्सेदारी भारतीय प्रशासनिक सेवा में लगभग तीन प्रतिशत, भारतीय विदेश सेवा में 1.8 प्रतिशत और भारतीय पुलिस सेवा में चार प्रतिशत थी। इन संख्याओं को रिपोर्ट में इस्तेमाल किए गए उस समय के सेवा संबंधी आँकड़ों के रूप में पढ़ना चाहिए, आज की गिनती के रूप में नहीं। इनसे संस्थागत प्रतिनिधित्व की कमी का सवाल सामने आता है; किसी व्यक्ति की योग्यता या किसी खास भर्ती में भेदभाव का फैसला अपने आप नहीं होता।

हुनरमंद आदमी के सामने कई बार बाज़ार की बाधा होती है। वह अच्छी चीज़ बना सकता है, लेकिन नई मशीन, कच्चे माल और बिक्री के लिए पूँजी कम है। बिचौलिये पर निर्भर होने से उसकी कमाई घटती है। उसे सिर्फ़ मेहनत बढ़ाने की सलाह देने से समस्या हल नहीं होगी। काम का आर्थिक ढाँचा भी समझना पड़ेगा।

शिक्षित युवा की मुश्किल अलग हो सकती है। डिग्री है, लेकिन रोज़गार से जुड़े कौशल, संपर्क और मार्गदर्शन कम हैं। नौकरी की सूचना समय पर नहीं मिलती या तैयारी का खर्च वहन नहीं होता। कहीं भेदभाव का अनुभव भी सामने आता है। इन अलग कारणों को एक ही बात में समेट देने से सही हल नहीं निकलता। सच्चर समिति की चर्चा ने रोज़गार और संस्थागत हिस्सेदारी को ध्यान में लाने में भूमिका निभाई। आगे हमारा काम होना चाहिए कि जाँची जा सकने वाली जानकारी से स्थिति समझें। किस क्षेत्र में प्रशिक्षण चाहिए, कहाँ रोज़गार का अवसर है और किस चरण में उम्मीदवार छूटता है? आवेदन कम हैं, चयन कम है या काम मिलने के बाद टिकना मुश्किल है? हर अवस्था अलग सवाल देती है।

समुदाय को भी रोज़गार की सोच व्यापक करनी होगी। सम्मान सिर्फ़ कुछ प्रतिष्ठित पदों में नहीं है। तकनीकी काम, स्वास्थ्य सेवा, व्यापार, शिक्षण और अनेक पेशों में अच्छी तैयारी से आगे बढ़ा जा सकता है। मगर किसी भी काम में उचित मजदूरी और सम्मान ज़रूरी है। गरीब आदमी से यह कहना कि जो मिला उसी से खुश रहो, सामाजिक इंसाफ़ नहीं। हम उसके हुनर का विकास, सुरक्षित काम और बेहतर कमाई की माँग साथ रखें। हिस्सेदारी का मतलब सिर्फ़ गिनती में नाम आना नहीं, मेहनत से जीने की बेहतर हालत बनना भी है। काम करने वाले की आवाज़ ज़रूरी है।

बैंक तक पहुँच विकास की चर्चा में अक्सर पीछे रह जाती है। पढ़ाई या कारोबार के लिए पैसा चाहिए तो परिवार पहले अपनी बचत देखता है। बचत कम हो तो रिश्तेदार, महाजन या स्थानीय उधार का सहारा लिया जाता है। ब्याज और शर्तें भारी हों तो छोटी मदद भी लंबे बोझ में बदल सकती है। इसलिए बैंक की सुविधा का सवाल अहम है।

सच्चर से जुड़ी बहस में ऋण और बैंकिंग तक पहुँच की चर्चा हुई। इस विषय को समझते समय खाता खुलना और उचित ऋण मिलना अलग अवस्थाएँ हैं। खाते में लेनदेन हो सकता है, लेकिन कारोबार बढ़ाने के लिए ज़रूरी राशि और समय पर निर्णय न मिले। यही फ़र्क़ किसी छोटे कारीगर के लिए निर्णायक बन जाता है।

बैंक की अपनी ज़िम्मेदारी है कि कर्ज़ की जाँच करे। हर आवेदन मंजूर होना संभव नहीं। लेकिन अस्वीकृति का कारण समझने योग्य होना चाहिए। दस्तावेज़, कारोबार की संभावना और भुगतान क्षमता के नियम निष्पक्ष रूप से लागू हों। अगर किसी को लगता है कि पहचान के कारण अलग व्यवहार हुआ, तो उसकी शिकायत तथ्य सहित सुनी जानी चाहिए। एक छोटे दुकानदार को पैसे की भाषा नहीं आती तो उसे बार-बार लौटाना आसान है। बेहतर व्यवस्था उसे ज़रूरी जानकारी साफ़ बताएगी। कौन सा काराज़ चाहिए, ऋण किस काम के लिए है, किस्त का बोझ कितना होगा और भुगतान में कठिनाई आए तो क्या करना है? समझ के बिना हस्ताक्षर करना उधार लेने वाले के लिए खतरा है।

समाज में पैसे की समझ बढ़ाना भी ज़रूरी है। ऋण मदद हो सकता है, लेकिन वह मुफ़्त पैसा नहीं। आमदनी का असल अनुमान, खर्च का हिसाब और भुगतान की योजना बनाए बिना बड़ा उधार लेना घर को संकट में डाल सकता है। इसलिए कारीगर या व्यापारी की मदद में सिर्फ़ ऋण दिलवाना उपलब्धि न माना जाए। उसका काम टिके, बिक्री बढ़े और वह इज़्ज़त से किस्त चुका सके, यह भी लक्ष्य होना चाहिए। बैंक की पहुँच और कारोबार की समझ साथ आएँगी तो आर्थिक अवसर का लाभ ज़्यादा स्थायी होगा। गरीब आदमी को कर्ज़ देकर भूल जाना विकास की कहानी नहीं है। नतीजे देखें।

सच्चर समिति की रिपोर्ट में पहचान, सुरक्षा और बराबरी के अवसर की चिंताएँ साथ दिखाई देती हैं। यह संबंध अपने आसपास आसानी से समझा जा सकता है। कोई परिवार असुरक्षा में रहे तो बच्चे की पढ़ाई प्रभावित हो सकती है। कारोबार करने वाला व्यक्ति अपनी दुकान की चिंता में निवेश रोक सकता है। नौकरी तलाशने वाला युवा पहचान छिपाने का दबाव महसूस करे तो उसका आत्मविश्वास भी चोट खा सकता है।

इसलिए विकास को सिर्फ़ सड़क और भवन में नहीं समेटना चाहिए। सार्वजनिक वातावरण में भरोसा भी ज़रूरी है। नागरिक को यह यकीन हो कि परेशानी आने पर पुलिस और प्रशासन उसकी बात सुनेंगे। उसकी मज़हबी पहचान उसके खिलाफ़ पहले से फैसला नहीं बनेगी। यह भरोसा संविधान के सिद्धांत और सरकारी व्यवहार के मिलने से पैदा होता है।

दूसरी ओर किसी समुदाय को सिर्फ़ डर की कहानी में बंद कर देना भी उचित नहीं। उसमें उद्यम, पढ़ाई, कला, मेहनत और आगे बढ़ने की इच्छा मौजूद है। हमें बाधाओं की बात करते हुए लोगों की सक्रिय कोशिश भी देखनी चाहिए। मदद का सही मतलब आदमी की अपनी ताकत बढ़ाना है, उसे हमेशा असहाय बताना नहीं। राष्ट्रीय बहस में मुसलमान को कभी सुरक्षा का विषय, कभी चुनाव की संख्या और कभी मज़हबी प्रतीक बना दिया जाता है। उसकी आम नागरिक ज़िंदगी पीछे छूट जाती है। वह शिक्षक बनना चाहता है, इलाज चाहता है, अच्छी मजदूरी चाहता है और बच्चों को बेहतर भविष्य देना चाहता है। नीति इसी रोज़मर्रा की ज़िंदगी तक लौटे तो चर्चा ज़्यादा उपयोगी होगी।

यहाँ सामाजिक संवाद की भी ज़िम्मेदारी है। दूसरे समुदायों के साथ काम, तालीम और स्थानीय समस्याओं पर सहयोग बढ़ाना चाहिए। साझा नल, साझा विद्यालय और साझा अस्पताल सबको चाहिए। खास वंचना को स्वीकार करते हुए साझा नागरिक ज़रूरतों पर साथ काम करना संभव है। इससे किसी की पहचान मिटती नहीं। बल्कि मोहल्ले में यह भरोसा बनता है कि अधिकार की माँग सिर्फ़ अपने लिए सुविधा जुटाने की कोशिश नहीं, इंसान की वही बात है जिसका लाभ हर नागरिक को मिलना चाहिए। सुरक्षा और विकास का रिश्ता इसी भरोसे में मज़बूत होता है। इसकी हिफ़ाज़त करें।

रिपोर्ट की सिफारिश और लागू सरकारी फैसला एक चीज़ नहीं हैं। समिति सुझाव देती है। सरकार उन्हें स्वीकार कर सकती है, बदल सकती है या स्वीकार न करने का कारण दे सकती है। कुछ सुझावों पर नियम बनते हैं, कुछ पर कार्यक्रम बनता है और कुछ विचार में रहते हैं। इसलिए सिर्फ़ रिपोर्ट का ज़िक्र करके किसी सुविधा को मौजूदा अधिकार बताना सही नहीं।

सच्चर समिति से जुड़े प्रमुख सुझावों में बेहतर आँकड़ों, अवसर की समानता और संस्थाओं की निगरानी का सवाल सामने आया। समान अवसर आयोग जैसी सिफारिश भी चर्चा में रही। ऐसी बात पढ़ते समय हमें देखना चाहिए कि सुझाव किस रूप में आगे बढ़ा और अंतिम कानूनी नतीजा क्या हुआ। प्रस्ताव, विशेषज्ञ समूह और लागू संस्था की अवस्थाएँ अलग हैं।

सरकारी कार्रवाई के पुराने विवरण पढ़ने से मालूम होता है कि तालीम, कौशल, ऋण और विशेष विकास की दिशा में अलग विभागों को ज़िम्मेदारियाँ दी गईं। इससे अहम सीख मिलती है। मुस्लिम विकास सिर्फ़ अल्पसंख्यक मंत्रालय के एक कार्यक्रम तक सीमित काम नहीं। आम तालीम, वित्त, रोज़गार और राज्य प्रशासन के विभागों की भूमिका भी है। यदि हम सब सवाल एक मंत्रालय पर रख दें तो बाकी विभाग अपने काम से दूर दिखाई देने लगेंगे। अच्छा सरकारी स्कूल तालीम विभाग की ज़िम्मेदारी है। स्वास्थ्य केंद्र संबंधित व्यवस्था की ज़िम्मेदारी है। निष्पक्ष बैंकिंग और रोज़गार में दूसरे संस्थानों का काम है। अल्पसंख्यक विषय का मतलब यह नहीं कि आम शासन की ज़िम्मेदारी अलग हो गई।

इसलिए रिपोर्ट के बाद की कार्रवाई को विभाग और नतीजों से देखना उपयोगी है। किस समस्या के लिए कौन सा कदम था? पैसा किस स्तर तक पहुँचा? सुविधा कहाँ बनी? उसका इस्तेमाल कौन कर सका? इन सवालों के बिना स्वीकृति की बड़ी संख्या भी पूरी तस्वीर नहीं देती। और बिना जानकारी सब कुछ विफल कह देना भी ठीक नहीं। हमें सफलता जहाँ है, उसे स्वीकार करना चाहिए; कमी जहाँ है, उसे नाम देकर बताना चाहिए। ऐसी जाँच सरकार बदलने पर भी काम आती है, क्योंकि नागरिक की ज़रूरत चुनावी समयसीमा से लंबी होती है। इससे नीति की चर्चा को उसका नागरिक मतलब मिलेगा।

सरकारी कार्यक्रमों का इतिहास समझते समय नामों की यात्रा देखना ज़रूरी है। अल्पसंख्यकों के कल्याण का नया पंद्रह सूत्री कार्यक्रम, बहुक्षेत्रीय विकास कार्यक्रम और बाद का प्रधानमंत्री जन विकास कार्यक्रम अलग संदर्भ रखते हैं। इनमें तालीम, बुनियादी सुविधा और अवसर की दिशा के सवाल सामने आए। लेकिन हर पुराना शीर्षक आज उसी रूप में आवेदन के लिए खुला है, यह मानना उचित नहीं।

क्षेत्र आधारित विकास की सोच का एक लाभ है। जिस इलाके में स्कूल, स्वास्थ्य या कौशल की सुविधा कम है, वहाँ सार्वजनिक ढाँचा सुधर सकता है। ऐसी सुविधा सिर्फ किसी एक परिवार को नकद सहायता देने से अलग है। उसका लाभ इलाके के लोगों को मिलता है। इसलिए उसे सिर्फ सामुदायिक पैसे की तंग भाषा में समझना सही नहीं।

फिर भी इलाके के चयन और काम की गुणवत्ता पर निगरानी ज़रूरी है। भवन बन गया, पर शिक्षक नहीं आए; प्रशिक्षण केंद्र है, पर नियमित पाठ्यक्रम नहीं; अस्पताल है, पर ज़रूरी सेवा नहीं। ऐसी हालत में निर्माण का खर्च दिखेगा, लेकिन विकास अधूरा रहेगा। परियोजना के साथ संचालन और लोगों की पहुँच भी देखनी होगी। सरकारी विवरण में स्वीकृत, जारी और खर्च की गई राशि अलग अवस्थाएँ होती हैं। इसी तरह प्रस्तावित, बनती और चलती सुविधा अलग हैं। हम अगर सबको जोड़कर पूरी कामयाबी कह दें तो असल कमी छिप जाएगी। अगर इन अवस्थाओं को समझें तो नागरिक ज़्यादा साफ़ सवाल पूछ सकता है। मसलन, स्वीकृति के बाद काम कहाँ रुका और ज़िम्मेदार कौन है? यह सवाल आम आरोप से ज़्यादा उपयोगी है।

इस इतिहास में सरकारों के दावे और विपक्ष की आलोचना दोनों मिलेंगे। पाठक का काम किसी एक नारे में बंद होना नहीं। वह अपने इलाके की ज़रूरत, आधिकारिक दस्तावेज़ और इस्तेमाल की स्थिति को साथ देखे। वहाँ सुविधा बढ़ी है तो उसका सम्मान हो। कोई बस्ती छूटी है तो उसकी माँग उठे। विकास की बहस तभी गंभीर बनेगी जब हम नाम, उद्घाटन और घोषणा से आगे जाकर यह देखें कि बच्चा पढ़ रहा है, मरीज इलाज पा रहा है और नौजवान सचमुच काम का हुनर सीख रहा है। लोगों का अनुभव जाँच में ज़रूरी है।

किसी रिपोर्ट के बाद बीते वर्षों की जाँच में सबसे मुश्किल सवाल है कि हालत कितनी बदली। इसका जवाब देने के लिए एक जैसे आधार पर तुलना चाहिए। अगर पुरानी और नई संख्या अलग उम्र, क्षेत्र या समूह को गिनती है तो सीधी तुलना भ्रम दे सकती है। इसलिए सुधार का दावा और गिरावट का दावा, दोनों की जाँच ज़रूरी है।

विद्यालय में नामांकन बढ़े तो अच्छी बात है। मगर उसी के साथ सीखने की गुणवत्ता और आगे की पढ़ाई का सवाल भी रहेगा। रोज़गार में हिस्सेदारी बढ़े तो काम की कमाई और स्थायित्व देखना होगा। बैंक खाते बढ़ें तो ऋण और उपयोग की स्थिति भी अहम होगी। विकास की एक सीढ़ी चढ़ने का मतलब पूरी मंजिल पहुँच जाना नहीं।

मुस्लिम समाज की अंदरूनी विविधता यहाँ फिर ज़रूरी बनती है। किसी महानगर में शिक्षित परिवार आगे बढ़े हों, तो उससे गरीब देहाती कारीगर की स्थिति नहीं बताई जा सकती। पुरुषों की सफलता से महिलाओं की स्थिति अपने आप साफ़ नहीं होती। व्यापक औसत के नीचे छिपे फ़र्क़ देखने होंगे। नीति वही बेहतर होगी जो पीछे छूटे लोगों तक पहुँच का सवाल बचाए रखे। हम स्थानीय अनुभव को भी महत्व दें, लेकिन उससे पूरे देश का फैसला न करें। अपने कस्बे में पाँच लड़कियाँ कॉलेज गईं तो यह आशा की बात है। इससे हर प्रदेश की प्रगति नहीं तय होती। दूसरी तरफ़ किसी एक जगह योजना की खराबी सामने आए तो उससे हर काम विफल घोषित नहीं किया जा सकता। अनुभव दिशा देता है, व्यापक जाँच उसका दायरा बताती है।

सच्चर समिति की विरासत को हम इसी ज़िम्मेदारी में बचा सकते हैं। वह हमें मुसलमानों की स्थिति पर गंभीर सवाल पूछने का आधार देती है। अब ज़रूरत नए, भरोसेमंद और समझने योग्य आँकड़ों की है। साथ ही उन आँकड़ों को नीति में बदलने की इच्छा चाहिए। सिर्फ़ कमी की गिनती करते रहने से भविष्य नहीं बनेगा। किस बाधा पर कौन सा उपाय असर करता है, यह सीखना होगा। समाज और सरकार दोनों अपनी कोशिश को ऐसी जाँच के सामने रखें तो सुधार की बात किसी बहस की जीत से कीमती होगी।

सच्चर समिति का ज़िक्र करते हुए हमारी आवाज़ में दुख भी आ सकता है और उम्मीद भी। दुख इसलिए कि बहुत से नागरिक अवसर में पीछे रहे। उम्मीद इसलिए कि उनकी स्थिति को राष्ट्रीय स्तर पर अध्ययन और सुधार का विषय बनाया गया। मगर बात ज़िम्मेदारी की है। रिपोर्ट का नाम दोहराने के बजाय उसके उठाए सवालों पर लगातार काम होना चाहिए।

हमने देखा कि तालीम, रोज़गार और पैसे की सुविधा एक दूसरे से जुड़े हैं। सुरक्षा और सम्मान भी उनसे अलग नहीं। कोई बच्चा भय में पढ़े, कोई कारीगर पूँजी के बिना काम करे और कोई लड़की सुविधा के अभाव में घर बैठ जाए, तो संविधान का बराबरी वाला वादा अधूरा दिखाई देता है। उस अधूरेपन को दूर करने की कोशिश ही नीति की वजह है। रिपोर्ट के समय का आँकड़ा आज का आँकड़ा नहीं है। सिफारिश अपने आप कानून नहीं बनती। स्वीकृति अपने आप पूरा अमल नहीं है। और भवन अपने आप चलती सेवा नहीं बनता। ये फ़र्क हमें निराश करने के लिए नहीं, सही जगह सवाल रखने के लिए हैं। गलत भरोसे और बिना जाँच की निराशा के बीच सच्ची उम्मीद का रास्ता मौजूद है।

समाज का काम भी साफ़ है। बच्चों की तालीम में सहयोग, लड़कियों की पढ़ाई का सम्मान, सही जानकारी का फैलाव और मेहनतकश तबकों की आवाज़ को जगह देना। सरकार से माँग रखते हुए अपने हिस्से की कोशिश चलती रहनी चाहिए। लेकिन अपनी कोशिश के नाम पर सार्वजनिक ज़िम्मेदारी को हटाना भी सही नहीं। विद्यालय और निष्पक्ष प्रशासन नागरिक का हक हैं।

अब हम योजनाओं के सवाल पर आते हैं। छात्रवृत्ति किस काम आती है, उसका आवेदन और मंजूरी कैसे अलग हैं, कौशल प्रशिक्षण को काम से कैसे जोड़ें, और विकास परियोजना का लाभ कहाँ देखना चाहिए? आगे का अध्याय पुराने विज्ञापन की सूची नहीं होगा। वह पाठक को योजना की किस्म समझाएगा ताकि परिवार जानकारी के साथ कदम उठा सके। न झूठा वादा होगा, न उसके हक को छोटा किया जाएगा। हमारी कोशिश रहेगी कि सरकारी व्यवस्था की बात उस आदमी के काम आए जिसके घर में अवसर की ज़्यादा ज़रूरत है।

अध्याय 16 – छात्रवृत्ति, तालीम, रोज़गार और विकास की योजनाएँ

किसी योजना का नाम सुनकर गरीब परिवार में उम्मीद जागती है। बच्चा पढ़ सकेगा, फीस का बोझ कम होगा या काम शुरू करने का सहारा मिल जाएगा। यह उम्मीद बहुत कीमती है। इसी कारण योजना की जानकारी सावधानी से देनी चाहिए। पुराना विज्ञापन, अधूरा संदेश और बड़े वादे आदमी को नुकसान पहुँचा सकते हैं। उसे वही बताया जाए जो संबंधित व्यवस्था में सचमुच मौजूद है।

पहले मदद की किस्म समझें। छात्रवृत्ति पढ़ाई का आर्थिक सहारा है। कौशल प्रशिक्षण काम सीखने का अवसर है। ऋण लौटाने वाली पैसे की मदद है। सार्वजनिक विकास परियोजना किसी इलाके में सुविधा बनाती है। इन सबको एक ही सरकारी पैसा कहकर देखना ठीक नहीं। परिवार का निर्णय इनके अलग मतलब से जुड़ा है।

अल्पसंख्यक मंत्रालय की योजनाएँ अहम हैं, लेकिन मुस्लिम नागरिक के लिए मौके सिर्फ़ वहीं नहीं हैं। आम तालीम, कौशल, रोज़गार और सामाजिक कल्याण की पात्र योजनाएँ भी देखी जा सकती हैं। राज्य सरकार की सहायता अलग हो सकती है। किसी बच्चे को सिर्फ़ मज़हबी पहचान के आधार पर एक छोटा दायरा दिखाना उसके अवसर कम करेगा। योजना की जानकारी देते समय तीन बातें खास तौर पर देखनी चाहिए। उसका मौजूदा आधिकारिक विवरण क्या है, संबंधित वर्ष में आवेदन की सूचना क्या कहती है, और व्यक्ति की अपनी पात्रता क्या है? पुराने नियम से नई समयसीमा तय नहीं की जा सकती। बजट में नाम होने से यह भी साबित नहीं होता कि इस समय नए आवेदन लिए जा रहे हैं।

हम इस अध्याय में योजनाओं का मतलब और उपयोग समझेंगे। जहाँ तारीख अहम है, उसे छिपाएँगे नहीं। लेकिन रोज़ बदल सकने वाली अंतिम तारीख और राशि के बारे में ऐसा वादा नहीं करेंगे जो पाठक बाद में गलत पाए। किताब का काम उसे समझ देना है ताकि वह मौजूदा आधिकारिक सूचना पढ़कर सही कदम उठा सके। हर परिवार को दलाल की ज़रूरत न पड़े, हर छात्र को अधूरे संदेश पर निर्भर न रहना पड़े, और हर मददगार अपने ज्ञान की हद समझे। यही जानकारी की इज़्ज़त है और यही सरकारी सहायता को नागरिक के काम तक पहुँचाने की शुरुआत है। समझ बराबर बाँटें।

प्रामाणिक छात्रवृत्ति की चर्चा में एक बदलाव ध्यान रखना चाहिए। अल्पसंख्यक विद्यार्थियों की इस केंद्रीय योजना में कक्षा एक से आठ का लाभ 2022-23 से बंद किया गया। इसलिए किसी पुराने पत्रक में एक से दस लिखा मिले तो उसे मौजूदा व्यवस्था समझकर परिवार को आश्वासन न दें। आधिकारिक बजट विवरण में अब कक्षा नौ और दस का संदर्भ मिलता है। इस बदलाव का मतलब यह नहीं कि छोटे बच्चे की पढ़ाई में कोई आर्थिक मुश्किल नहीं बची।

बच्चे की पढ़ाई का सवाल सिर्फ छात्रवृत्ति मिलने पर नहीं टिकता। संविधान का अनुच्छेद 21A छह से चौदह वर्ष के सभी बच्चों के लिए कानून में तय तरीके से मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का आधार देता है। इससे जुड़ी व्यवस्था शिक्षा का अधिकार अधिनियम, 2009 में है। छात्रवृत्ति और शिक्षा के इस बुनियादी अधिकार को अलग समझें। किसी खास विद्यालय में दाखिले या खर्च की स्थिति उसके लागू कानून और नियम से देखनी होगी। मुफ्त पढ़ाई की व्यवस्था के बावजूद आने-जाने, कपड़ों और दूसरी जरूरतों का खर्च परिवार के लिए मुश्किल बन सकता है।

लेकिन सहायता की उम्मीद में स्कूल का प्रवेश और नियमित पढ़ाई रोकना सही नहीं। परिवार को खर्च का असल हिसाब और उपलब्ध दूसरी मदद भी देखनी चाहिए। अगर संबंधित वर्ष की आवेदन सूचना उपलब्ध हो तो पात्रता, स्कूल की मान्यता, आय संबंधी शर्त और ज़रूरी दस्तावेज़ उसी से पढ़ें। सिर्फ़ समुदाय का नाम सही होना पूरी पात्रता नहीं है। पढ़ाई की स्थिति और योजना की दूसरी शर्तें भी अहम होंगी। आवेदन करने के बाद सत्यापन और चयन की प्रक्रिया अलग रहती है।

विद्यालय को सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। पात्र छात्रों को सूचना समय पर मिले, माता-पिता को समझाया जाए और गलती सुधारने का अवसर साफ़ हो। जो बच्चा पहली बार ऑनलाइन फ़ॉर्म भर रहा है, उससे पूरी जानकारी पहले से होने की उम्मीद करना अनुचित है। उसके लिए छोटी मदद बड़ा फ़र्क़ ला सकती है। अच्छे शिक्षक की भूमिका सिर्फ़ पाठ पढ़ाने तक सीमित नहीं। वह बच्चे को संस्थाओं के अवसर समझने में भी सहारा दे सकता है। इससे छात्रवृत्ति का सवाल एक अकेले फ़ॉर्म से आगे बढ़कर पढ़ाई में बने रहने की साझा ज़िम्मेदारी बनता है।

पोस्टमैट्रिक सहायता का विषय उन छात्रों से जुड़ता है जो दसवीं के बाद आगे पढ़ रहे हैं। स्कूल की अगली कक्षाएँ, उच्च तालीम और संबंधित पाठ्यक्रम इसके संदर्भ में आते हैं। मेरिट कम मीन्स का पुराना ढाँचा पेशेवर और तकनीकी पढ़ाई से जुड़ा रहा है। लेकिन दोनों का नाम सुनकर यह नहीं मानना चाहिए कि हर पाठ्यक्रम और हर छात्र को समान राशि मिलेगी।

किस संस्थान की मान्यता है, पाठ्यक्रम किस स्तर का है, छात्र की तालीमी स्थिति क्या है और परिवार की आय संबंधी पात्रता कैसे देखी जाती है? ये सवाल अहम हैं। किसी निजी संस्थान का विज्ञापन कहे कि सरकार फीस दे देगी तो छात्र को मूल सूचना जाँचनी चाहिए। प्रवेश का फैसला सिर्फ़ ऐसे आश्वासन पर करने से बाद में आर्थिक संकट आ सकता है।

भारत सरकार के 2026-27 के बजट में अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय की माँग संख्या 70 के अंतर्गत प्रीमैट्रिक छात्रवृत्ति के लिए 198 करोड़ रुपये और पोस्टमैट्रिक छात्रवृत्ति के लिए 581 करोड़ रुपये का प्रावधान है। पेशेवर और तकनीकी पाठ्यक्रमों की मेरिट कम मीन्स छात्रवृत्ति के लिए 0.06 करोड़ रुपये, यानी छह लाख रुपये का बजट अनुमान रखा गया है। ये बजट प्रावधान हैं; इन्हें छात्रों को हो चुके भुगतान की रकम नहीं समझना चाहिए। सिर्फ़ शीर्षक पढ़कर नए पुरस्कारों की संख्या या आवेदन खुलने का दावा नहीं किया जा सकता। छात्र के लिए काम की बात यह है कि वह अपनी पढ़ाई की असल फीस, रहने का खर्च और संभावित सहायता का फ़र्क समझे। छात्रवृत्ति आए तो कितना सहारा होगा? देर हो जाए तो पढ़ाई कैसे चलेगी? राज्य की सहायता या संस्थान की फीस छूट की संभावना है या नहीं? ऐसे सवाल परिवार को बेहतर निर्णय लेने में मदद करते हैं।

किसी छात्र को सिर्फ़ आर्थिक कठिनाई के कारण बिना सलाह अपनी पढ़ाई छोड़ने न दें। कॉलेज का सहायता विभाग, शिक्षक और उपलब्ध आधिकारिक योजनाओं की जानकारी काम आ सकती है। लेकिन मदद खोजते हुए गलत कागज़ बनाना या झूठी आय बताना उचित नहीं। सच के आधार पर मिलने वाला छोटा सहारा भी आगे सुरक्षित रास्ता देता है। झूठे भरोसे पर लिया गया बड़ा प्रवेश बोझ बन सकता है। पढ़ाई के सपने को हम मज़बूत योजना, साफ़ जानकारी और परिवार की असल क्षमता के साथ आगे बढ़ाएँ। मार्गदर्शन इस यात्रा को सुरक्षित बना सकता है।

मौलाना आजाद राष्ट्रीय फेलोशिप का नाम उच्च तालीम की चर्चा में मिलता रहा है। मुस्लिम और दूसरे अल्पसंख्यक शोधार्थियों के लिए यह आर्थिक सहारे की व्यवस्था रही। लेकिन सरकार ने इसे 2022-23 से बंद करने का निर्णय बताया। इसलिए किसी नए शोधार्थी को पुरानी वेबसाइट की तस्वीर दिखाकर यह कहना सही नहीं कि वह अब इसी योजना में आवेदन कर लेगा। बंद किए गए कार्यक्रम से जुड़े पुराने भुगतान या पहले से मंजूर लाभार्थियों की ज़िम्मेदारियाँ अलग सवाल हो सकती हैं।

बजट में संबंधित शीर्षक पर राशि दिखाई दे तो उससे नए चयन का नतीजा अपने आप नहीं निकलता। हमें मौजूदा आधिकारिक सूचना और पहले से मंजूर सहायता की स्थिति अलग देखनी होगी। यह फ़र्क़ शोधार्थी की आर्थिक योजना में अहम है। उच्च तालीम का रास्ता भी खत्म नहीं होता। विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय परीक्षाओं और अन्य पात्र श्रेणियों की फेलोशिप के अवसर देखे जा सकते हैं। हर अवसर की योग्यता, विषय, परीक्षा और चयन प्रक्रिया अलग होगी। किसी मुस्लिम छात्र को आम शोध सहायता से बाहर मान लेना गलत मार्गदर्शन है।

उसकी मज़हबी पहचान अपने आप किसी दूसरे मुकाबले का दरवाज़ा बंद नहीं करती। शोध की तैयारी में पैसे के साथ पढ़ाई का मार्गदर्शन भी चाहिए। विषय कैसे चुना जाए, कौन सा संस्थान उपयुक्त है, प्रवेश परीक्षा की तैयारी कैसे हो और प्रस्ताव कैसे बनाया जाए? पहली पीढ़ी का छात्र यहाँ विशेष सहारे की ज़रूरत महसूस कर सकता है। एक शिक्षक का समय उसके लिए किसी बड़ी घोषणा से ज़्यादा उपयोगी हो सकता है। सार्वजनिक नीति की जाँच में यह सवाल पूछा जा सकता है कि सहायता का बदलाव किन छात्रों पर क्या असर लाया।

किसी योजना के बंद होने की सरकारी वजह पढ़ना ज़रूरी है, असल असर देखना भी ज़रूरी है। लेकिन इस बहस में मौजूदा छात्र को गलत आश्वासन न दें। उसकी पढ़ाई आज चल रही है और उसके खर्च आज सामने हैं। उसे अभी उपलब्ध सही रास्ता समझाना पहली मदद है। भविष्य में नीति पर माँग अपनी जगह जारी रह सकती है। विद्यार्थी की तत्काल ज़रूरत और व्यापक सुधार की चर्चा दोनों साथ चलें तो बात ज़िम्मेदार होगी।

ऑनलाइन आवेदन ने कई काम आसान किए हैं, लेकिन सबके लिए कठिनाई खत्म नहीं हुई। किसी छात्र के पास अपना फोन नहीं, किसी का नेटवर्क खराब है, किसी के नाम की वर्तनी अलग कागज़ों में अलग है। ऐसे छोटे दिखने वाले फर्क सत्यापन में परेशानी पैदा कर सकते हैं। इसलिए फार्म भरने से पहले दस्तावेज़ व्यवस्थित करना उपयोगी है।

आधिकारिक सूचना के अनुसार पहचान, पढ़ाई, बैंक और पात्रता के आवश्यक कागज़ देखे जाएँ। जो दस्तावेज़ माँगा ही नहीं गया, उसे केवल किसी की सलाह पर अनावश्यक रूप से जमा करने की जरूरत नहीं। नाम, जन्मतिथि और खाते की जानकारी में मेल हो तो आगे की प्रक्रिया अधिक साफ रहती है। कोई गलती हो तो उसे संबंधित सक्षम व्यवस्था से ठीक कराएँ।

आवेदन जमा होने का मतलब सहायता मंजूर होना नहीं। बीच में संस्थान का सत्यापन, संबंधित अधिकारी की जाँच और योजना का चयन हो सकता है। इसलिए प्राप्ति या आवेदन संख्या सुरक्षित रखें और स्थिति उसी आधिकारिक व्यवस्था से देखें। किसी संदेश में पैसा आने का दावा हो तो खाते की वास्तविक स्थिति से मिलाएँ। अनुमान के आधार पर खर्च तय करना उचित नहीं।

साइबर केंद्र या मददगार का सहारा लेते समय अपना पासवर्ड और संवेदनशील जानकारी संभालकर रखें। अनजान व्यक्ति को पैसे दिलाने की गारंटी के बदले भुगतान करना जोखिम है। सहायता देने वाला व्यक्ति शुल्क लेता हो तो उसका काम और शुल्क स्पष्ट हों। सरकारी लाभ की मंजूरी किसी दलाल का निजी वादा नहीं है।

विद्यालय और मोहल्ले में छोटे सहायता शिविर काम आ सकते हैं। वहाँ केवल फार्म भरने की जल्दी न हो; छात्र को उसके आवेदन का अर्थ भी समझाया जाए। अस्वीकृति हुई हो तो कारण पढ़ने में मदद मिले। सुधार की उपलब्ध प्रक्रिया हो तो समय पर कदम उठाया जाए। जिस छात्र के माता पिता पढ़े नहीं हैं, उसके लिए यह साथ बहुत महत्वपूर्ण है। उसे शर्मिंदा करने के बजाय समझाया जाए। डिजिटल सुविधा तभी बराबरी बढ़ाती है जब कम जानने वाले व्यक्ति के लिए भी उसका इस्तेमाल संभव हो। वरना स्क्रीन पर खुला दरवाज़ा भी आदमी की वास्तविक जिंदगी में बंद रह सकता है।

प्रधानमंत्री विरासत का संवर्धन, जिसे PM VIKAS कहा जाता है, अल्पसंख्यक समुदायों की तालीम, कौशल और रोज़ी-रोटी से जुड़ी एकीकृत व्यवस्था है। इसमें सीखो और कमाओ, उस्ताद, हमारी धरोहर, नई रोशनी और नई मंजिल जैसी पाँच पूर्व योजनाओं को जोड़ा गया है। इसलिए पुरानी सूची देखकर इन्हें आज पाँच स्वतंत्र खुले अवसरों की तरह पेश करना ठीक नहीं।

अगस्त 2026 के सरकारी विवरण में कौशल प्रशिक्षण, महिलाओं के नेतृत्व और उद्यम, तालीम तथा ज़रूरत के अनुसार दूसरे कार्यक्रम से जुड़ी बुनियादी सुविधा का ज़िक्र है। इस ढाँचे की अहमियत समझते हुए भी प्रशिक्षण मिलने को नौकरी की गारंटी नहीं मानना चाहिए। काम सीखने के बाद बाज़ार, योग्यता और रोज़गार की असल स्थिति अलग देखनी होगी।

कारीगर के लिए सिर्फ़ नया प्रमाणपत्र काफ़ी नहीं। उसका हुनर बेहतर हो, उत्पादन की लागत समझ आए, सामान की गुणवत्ता बढ़े और खरीदार तक पहुँच बने। कोई महिला छोटा कारोबार शुरू करे तो प्रशिक्षण के साथ समय, आवागमन और घर की ज़िम्मेदारी का सवाल भी होगा। कार्यक्रम तभी उपयोगी होगा जब इन असल रुकावटों को नज़र में रखे। नौजवान किसी प्रशिक्षण में प्रवेश से पहले उसकी आधिकारिक पहचान, पाठ्यक्रम, अवधि और काम की संभावना समझे। कौन सा कौशल सीख रहा है? क्या ज़रूरी उपकरण पर अभ्यास मिलेगा? प्रशिक्षण देने वाला संस्थान सचमुच संबंधित योजना में है या सिर्फ़ नाम इस्तेमाल कर रहा है? ये सवाल सावधानी के साथ पूछे जा सकते हैं।

पुराने हुनर को बचाना और नई कमाई से जोड़ना साथ संभव है। विरासत सिर्फ़ प्रदर्शनी में रखी चीज़ नहीं। वह उस कारीगर के घर की रोज़ी भी है जिसके हाथ में पीढ़ियों का अनुभव है। लेकिन विरासत के नाम पर उसे पुराने कम दाम में बाँधना भी ठीक नहीं। उसे नई तकनीक, बेहतर डिजाइन और उचित बाज़ार का अवसर चाहिए। समाज उसके काम की तारीफ़ करे तो खरीद और उचित भुगतान में भी सम्मान दिखाए। सरकारी प्रशिक्षण और सामाजिक सहयोग इस जगह साथ आएँ तो हुनर को सिर्फ़ पहचान की शान नहीं, जीने का ज़्यादा मज़बूत सहारा बनाया जा सकता है। कारीगर की सलाह भी निर्णय में शामिल होनी चाहिए, यही सम्मान है।

प्रशिक्षण पूरा होने के बाद असली सवाल शुरू होता है: सीखा हुआ काम घर की टिकाऊ रोज़ी में कैसे बदले? किसी नौजवान के हाथ में प्रमाणपत्र हो, लेकिन उसे ग्राहक न मिले या काम करने के औज़ार न हों, तो परिवार की उम्मीद अधूरी रह सकती है। इसलिए कौशल की चर्चा में प्रशिक्षण के बाद का रास्ता भी देखना चाहिए।

मान लीजिए कोई लड़की सिलाई सीखकर लौटी है। अब उसे मशीन, कपड़े की लागत, सही नाप और समय पर काम देने की समझ चाहिए। ग्राहक से दाम तय करना भी सीखना पड़ेगा। घर में उसकी मेहनत को खाली समय का काम समझ लिया जाए तो कारोबार आगे नहीं बढ़ेगा। उसे काम की जगह और अपने समय पर अधिकार मिले, यह परिवार की ज़िम्मेदारी है।

कारीगर के सामने दूसरी मुश्किल बाज़ार की हो सकती है। सामान अच्छा है, लेकिन खरीदार तक उसकी सीधी पहुँच नहीं। ऐसे में स्थानीय प्रदर्शनी, दुकानदार से संपर्क और उपलब्ध बिक्री के रास्ते समझना मदद कर सकता है। मगर हर कार्यक्रम में भाग लेने से लाभ तय नहीं होता। यात्रा, किराया और बिक्री का हिसाब रखकर देखना होगा कि मेहनत के बाद असल में क्या बचा। छोटा कारोबार शुरू करने वाला युवक उधार लेने से पहले अपनी असल ज़रूरत पहचान ले। कौन सा सामान अभी ज़रूरी है और कौन सा बाद में लिया जा सकता है? संभावित कमाई को तय कमाई मानकर बड़ा खर्च करना परेशानी बढ़ा सकता है। रोज़ का हिसाब रखने से यह भी पता चलेगा कि काम चल रहा है या बचत धीरे-धीरे खर्च हो रही है।

प्रशिक्षण देने वाले संस्थान से सवाल करना भी उचित है। अभ्यास कितना हुआ, सीखी बात काम में आई या नहीं, और कठिनाई पर मार्गदर्शन कहाँ मिलेगा? सिर्फ़ प्रमाणपत्र बाँटकर सफलता घोषित कर देना काफ़ी नहीं। समाज भी अपने कारीगर की मदद सम्मान से करे। उसका सामान खरीदे तो उचित दाम दे, उसकी सलाह सुने और उसके काम को मुफ्त सेवा न समझे। हुनर की असल क़द्र वहीं है जहाँ उससे आदमी अपने घर का खर्च चला सके और अपनी मेहनत का फैसला इज़्ज़त के साथ कर सके।

प्रधानमंत्री जन विकास कार्यक्रम, यानी PMJVK, का रूप व्यक्ति को छात्रवृत्ति देने से अलग है। मक़सद संबंधित क्षेत्रों में सार्वजनिक ढाँचा और समुदाय के काम की सुविधाएँ विकसित करना है। तालीम, स्वास्थ्य, कौशल और दूसरे सामुदायिक क्षेत्रों की परियोजनाएँ इस संदर्भ में आती हैं। इसलिए नागरिक इसे अपने खाते में आने वाली निजी रकम की तरह न समझे।

ऐसी परियोजना का सही मूल्य उसके उपयोग में दिखाई देता है। विद्यालय बना तो बच्चे नियमित पढ़ें। स्वास्थ्य केंद्र बना तो ज़रूरी सेवा मिले। कौशल केंद्र बना तो प्रशिक्षक और उपकरण उपलब्ध हों। निर्माण का उद्घाटन शुरुआत हो सकता है, लेकिन चलती सुविधा ही लोगों की ज़िंदगी बदलती है। हमें दोनों अवस्थाओं का फ़र्क़ देखना चाहिए।

क्षेत्र की परियोजना में राज्य और स्थानीय प्रशासन की भूमिका होती है। ज़रूरत की पहचान, प्रस्ताव, स्वीकृति और काम की निगरानी अलग चरण हैं। कोई नागरिक अपने इलाके की कमी बताए तो उसे यह समझने में मदद मिलनी चाहिए कि माँग किस स्तर पर रखी जाए। सिर्फ़ केंद्र का नाम लिखकर स्थानीय ज़िम्मेदारी गायब कर देना उपयोगी नहीं। भारत सरकार की अनुदानों की माँगों पर टिप्पणियाँ, 2026-27 में अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय की माँग संख्या 70 के अंतर्गत प्रधानमंत्री जन विकास कार्यक्रम के लिए दो हजार करोड़ रुपये का प्रावधान है। यह बजट अनुमान है। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सारी राशि खर्च हो गई या हर जगह परियोजना पूरी हो गई। आवंटन, जारी राशि, खर्च और काम की स्थिति अलग जानकारी माँगते हैं। इन फ़र्कों को समझकर ही उपलब्धि का सही मूल्यांकन होगा।

बस्ती का नागरिक पूछ सकता है कि प्रस्तावित स्कूल कहाँ तक पहुँचा, उसके संचालन की ज़िम्मेदारी किसकी है और बच्चे कब पढ़ सकेंगे। सवाल विरोध का नारा नहीं, सार्वजनिक पैसे के असर की माँग है। सुविधा बनी हो तो उसका सामूहिक सम्मान और देखभाल भी ज़रूरी है। उसे किसी एक समूह की निजी संपत्ति समझना गलत होगा। जिस सार्वजनिक ढाँचे से आसपास के लोगों की ज़रूरत पूरी होती है, उसकी उपयोगिता सबके जीवन में दिखाई देनी चाहिए। विकास की भाषा तभी भरोसेमंद होगी जब कागज़ में दिखा काम ज़मीन पर उपलब्ध सेवा से मेल खाए। नागरिक की निगरानी इस मेल को मज़बूत करने में भूमिका निभा सकती है।

बजट की चर्चा में बड़ी राशि तुरंत ध्यान खींचती है। लेकिन राशि का मतलब समझे बिना उससे फैसला निकालना सही नहीं। भारत सरकार की अनुदानों की माँगों पर टिप्पणियाँ, 2026-27 की माँग संख्या 70 के अनुसार अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय के लिए कुल तीन हजार चार सौ करोड़ रुपये का बजट अनुमान है। इसे मुस्लिम समुदाय के हर परिवार में बाँटे जाने वाला पैसा नहीं माना जा सकता। मंत्रालय के कार्यक्रम और संस्थागत खर्च अलग मदों में आते हैं।

एक वर्ष के बजट अनुमान, संशोधित अनुमान और असल खर्च में फ़र्क़ होता है। शुरुआत में सरकार जो प्रावधान करती है, वह बजट अनुमान है। वर्ष के भीतर स्थिति बदलने पर संशोधित अनुमान आता है। असल खर्च बाद में बताता है कि राशि का इस्तेमाल कितना हुआ। इन अलग खानों को मिलाकर दावा करना भ्रम पैदा करता है।

किसी योजना की रकम घटे तो उसका कारण और असर पूछा जा सकता है। लेकिन सिर्फ़ एक संख्या देखकर यह तय न करें कि हर लाभार्थी का भुगतान बंद हो गया। इसी तरह रकम बढ़े तो यह न मानें कि सहायता अपने आप सबको मिल गई। आवेदन, प्रशासन, चयन और सेवा देने की क्षमता भी अहम हैं। ज़्यादा प्रावधान उपयोगी शुरुआत है, पूरा नतीजा नहीं। पुराने कार्यक्रम की देनदारी बजट में रह सकती है। बहुत छोटी राशि वाला शीर्षक भी दिख सकता है। इससे उसकी नई आवेदन स्थिति का अंतिम फैसला नहीं निकलता। हमें संबंधित मंत्रालय की मौजूदा सूचना और योजना के लिखित नियम अलग देखने होंगे। बजट नीति की दिशा दिखाता है, हर व्यक्ति का स्वीकृति पत्र नहीं बनता।

समाज में बजट पढ़ने की समझ बढ़ानी चाहिए। पढ़े हुए नौजवान सरल भाषा में बताएँ कि कौन सी रकम किस काम के लिए है और कौन सा सवाल अभी बाकी है। वे किसी दल का प्रचारपत्र बनाने के बजाय लोगों की समझ बढ़ाएँ। ठीक सवाल होगा कि इस प्रावधान से ज़रूरतमंद छात्र या इलाके तक लाभ कैसे पहुँचेगा, किस चरण पर देर है और क्या सुधार चाहिए। सार्वजनिक पैसे की इज़्ज़त यही है कि उसे घोषणा की चमक से नहीं, नागरिक की ज़रूरत, असल इस्तेमाल और खर्च का हिसाब समझकर ज़िम्मेदारी से देखा जाए।

योजना और नागरिक के बीच समाज की भूमिका है। कोई छात्र सूचना नहीं समझ पाया, कोई विधवा कागज़ व्यवस्थित नहीं कर सकी, कोई कारीगर प्रशिक्षण का रास्ता नहीं जानता। ऐसे लोगों की छोटी मदद भी जीवन में फ़र्क़ ला सकती है। लेकिन मदद ईमानदार, साफ़ और व्यक्ति के सम्मान के साथ होनी चाहिए।

मोहल्ले की एक समिति हर महीने आधिकारिक सूचना पढ़कर ज़रूरतमंद परिवारों को समझा सकती है। उसमें शिक्षक, जानकार युवा और महिलाओं की भागीदारी हो। सिर्फ़ बड़े पद वाले लोग निर्णय न करें। जिसे वास्तव में कठिनाई है, उसकी बात पहले सुनी जाए। समिति सरकारी लाभ की गारंटी न दे, बल्कि सही रास्ता समझाए और उपलब्ध प्रक्रिया में सहायता करे।

इस काम में राजनीति और निजी प्रचार से दूरी की समझ चाहिए। मदद लेने वाले की तस्वीर लगा देना या उसके दस्तावेज़ सार्वजनिक करना ज़रूरी नहीं। उसकी गरीबी प्रदर्शन की चीज़ नहीं। अगर सार्वजनिक रिपोर्ट चाहिए तो व्यक्तिगत जानकारी बचाकर कुल काम बताया जा सकता है। इज़्ज़त का लिहाज सहायता की बेहतरी का हिस्सा है। समुदाय अपने संसाधन से भी पढ़ाई का सहारा दे सकता है। किताबों की छोटी लाइब्रेरी, पढ़ाई की जगह, परीक्षा के मार्गदर्शन और ज़रूरतमंद छात्र की फीस में सहयोग उपयोगी हैं। यह सहयोग सरकारी व्यवस्था की ज़िम्मेदारी का विकल्प नहीं, उसके साथ चलने वाला सहारा है। नागरिक अपने हक माँगते रहें और अपनी निजी क्षमता से भी कमज़ोर लोगों की मदद करें।

सबसे ज़रूरी है कि सहायता की पहुँच सिर्फ़ परिचित परिवारों तक सीमित न रहे। पहली पीढ़ी की लड़की, कम पढ़े मजदूर का बच्चा और छोटे कारीगर का घर पीछे न छूटे। मदद में पक्षपात होगा तो वही दूरी दोहराई जाएगी जिसे दूर करने निकले थे। हम अपनी छोटी व्यवस्था को भी निष्पक्ष बनाएँ। किसी को यह महसूस न हो कि लाभ पाने के लिए बड़े आदमी का करीबी होना ज़रूरी है। ज्ञान और अवसर की ऐसी साझेदारी समाज को भीतर से मज़बूत करती है। वह नौजवान को यह सीख देती है कि आगे बढ़ने का मतलब अकेले ऊपर जाना नहीं, अपने आसपास दूसरे लोगों के लिए भी रास्ता थोड़ा आसान बनाना है।

भाग चार के अंत में हम फिर उस आदमी तक लौटते हैं जिसके लिए सारी चर्चा की गई। वह छात्र है, कारीगर है, खेत या शहर का मजदूर है, पढ़ाई जारी रखने की इच्छुक लड़की है। उसके लिए आयोग, सूची, रिपोर्ट और योजना तभी मायने रखते हैं जब उनमें से जीवन का कोई रास्ता खुलता है। हमारी किताब का केंद्र वही आम नागरिक रहना चाहिए।

अल्पसंख्यक आयोग ने हमें संस्थाओं में सुनवाई और निगरानी का मतलब समझाया। पिछड़े मुस्लिम समुदायों की चर्चा ने बताया कि समाज के भीतर की असमानता भी देखनी होगी। सच्चर समिति ने अवसर की हालत को व्यवस्थित अध्ययन से जोड़ने का महत्व सामने रखा। योजनाओं की चर्चा ने यह दिखाया कि मदद की किस्म और मौजूदा सूचना समझकर ही सही कदम उठाया जा सकता है।

इन सबका साझा सवाल हिस्सेदारी है। क्या निर्णय में हमारी बात सुनी जाती है? क्या बच्चों को अच्छी तालीम मिलती है? क्या मेहनत का उचित मौका है? क्या कमज़ोर तबके आगे आ सकते हैं? सिर्फ किसी समुदाय का नाम सरकारी कागज़ में होना इन सवालों का पूरा जवाब नहीं। बराबरी का वादा रोज़मर्रा के नतीजे में दिखाई देना चाहिए। हम उम्मीद रखेंगे, लेकिन उसे समझ और मेहनत से जोड़ेंगे। सरकार से जवाब माँगेंगे, मगर अपने भीतर की ज़िम्मेदारी नहीं भूलेंगे। पुराने आँकड़े की तारीख बचाएँगे और नई जानकारी तलाशेंगे। किसी छात्र को झूठा लाभ नहीं बताएँगे, किसी मजदूर की शिकायत को छोटा नहीं कहेंगे, और किसी लड़की की पढ़ाई को कम ज़रूरी नहीं मानेंगे। इसी तरह संवैधानिक सोच व्यवहार में उतरती है।

अब अगले भाग में आज के हिंदुस्तान की स्थिति पर आएँगे। आबादी, तालीम, रोज़गार और प्रतिनिधित्व के उपलब्ध आँकड़े क्या कहते हैं, यह देखना होगा। साथ ही 2026 तक की कानूनी स्थिति और आगे के सवाल सामने रखेंगे। वहाँ भी हमारी कोशिश यही होगी कि तथ्य अपनी तारीख के साथ आएँ और आदमी की इज़्ज़त किसी संख्या में खो न जाए। मुल्क की बेहतरी तभी पूरी होगी जब विकास और सुरक्षा का भरोसा उन घरों तक भी पहुँचे जिनके दरवाज़े पर अवसर मिलने में बहुत देर लग रही है।

भाग पाँच – आज का हिंदुस्तान

अध्याय 17 – आबादी, तालीम, रोज़गार और प्रतिनिधित्व— उपलब्ध आँकड़े क्या कहते हैं

पिछले भाग के आखिर में हम उस नागरिक तक लौटे थे जिसके लिए कानून और योजनाओं की चर्चा होती है। अब सवाल है कि आज उसकी हालत को कैसे समझें। क्या सिर्फ़ अपने मोहल्ले को देखकर पूरे हिंदुस्तान का फ़ैसला कर दें? क्या किसी बैठक में बताई तादाद को आखिरी सच मान लें? या सरकारी आँकड़ा देखकर उसमें छिपे आदमी की ज़िंदगी भूल जाएँ? इन तीनों रास्तों से बचना होगा।

आँकड़े हमारी मदद करते हैं, लेकिन उन्हें पढ़ना भी सीखना पड़ता है। किसी तालिका में आबादी है, दूसरी में कॉलेज के विद्यार्थी, तीसरी में काम करने वाले लोग। इनके आधार अलग हैं। पूरे समाज की आबादी में बच्चे और बुजुर्ग भी हैं। कॉलेज में दाखिले की गिनती पढ़ाई की खास व्यवस्था बताती है। काम का सर्वेक्षण अपनी परिभाषा के अनुसार रोज़गार देखता है। इन सबको सीधे जोड़कर नतीजा निकालना ठीक नहीं।

इस अध्याय में हम संख्या से डरेंगे नहीं और उसे चमत्कार भी नहीं मानेंगे। जिस वर्ष की जानकारी है, उसी वर्ष का नाम रखेंगे। जहाँ नई रिपोर्ट मिली है, उसे देखेंगे। जहाँ पक्की जानकारी नहीं मिली, वहाँ अनुमान को सरकारी सच बनाकर नहीं लिखेंगे। किसी समुदाय के बारे में ज़िम्मेदार लेखन का यही शुरुआती उसूल है।

मुस्लिम समाज की चर्चा में यह सावधानी और ज़रूरी हो जाती है। आबादी का सवाल कई बार डर पैदा करने में इस्तेमाल होता है। तालीम की कमी को स्वभाव की कमी कहा जाता है। रोज़गार के अनुभव को कभी सिर्फ़ धर्म, कभी सिर्फ़ निजी मेहनत से समझा दिया जाता है। जबकि असल ज़िंदगी में कई कारण साथ काम करते हैं। हमारा मक़सद किसी गिनती से अपना बड़प्पन साबित करना नहीं है। हमें जानना है कि बच्चों की तालीम कहाँ अटकती है, काम की हालत कैसी है और निर्णय में नागरिक की आवाज़ कितनी पहुँचती है। यह जानकारी सही होगी तो माँग भी सही बनेगी। ग़लत तस्वीर पर बनाई नीति सही आदमी तक नहीं पहुँच पाएगी। आगे के पन्नों में हम इसी समझ से आबादी, तालीम और हिस्सेदारी की बात रखेंगे, ताकि सच्चाई और इंसानी इज़्ज़त साथ रहें। इसी से हमारी माँग साफ़ बनेगी।

2011 की जनगणना के मज़हबवार सरकारी विवरण में मुसलमानों की आबादी लगभग 17.22 करोड़ और देश की कुल आबादी में हिस्सा 14.2 प्रतिशत बताया गया था। यह 2011 की तस्वीर है। इसे आज की गिनती कहना ठीक नहीं। किसी अनुमान से 2026 की संख्या निकाली जाए तो वह अनुमान अपने तरीके और सीमा के साथ अलग रखा जाएगा; पुरानी जनगणना का नाम उसे नया नहीं बना देता।

जनगणना की नई प्रक्रिया और उसके प्रकाशित नतीजे में भी फ़र्क़ है। अगस्त 2026 के सरकारी जवाब में जनगणना 2027 की तैयारी, मकानों की सूची और दूसरे चरण का विवरण दिया गया। यह प्रक्रिया अहम है। लेकिन तैयारी की घोषणा से नई धर्मवार राष्ट्रीय आबादी की अंतिम तालिका सामने आ गई, ऐसा नतीजा नहीं निकलता।

आबादी पढ़ते समय प्रदेश और जिले का फ़र्क़ भी देखें। देश का औसत किसी एक कस्बे की बनावट नहीं बताता। किसी इलाके में मुसलमान ज़्यादा हो सकते हैं, किसी दूसरे इलाके में कम। इससे ज़रूरत की पहचान में फ़र्क़ आएगा। विद्यालय, स्वास्थ्य, रोज़गार और भाषा की सुविधा का स्थानीय हिसाब इसी वजह से अहम होता है।

लेकिन किसी बस्ती की संख्या को लोगों के खिलाफ़ शक बनाने में इस्तेमाल करना नाइंसाफ़ी है। नागरिक की हैसियत उसकी गिनती कम या ज़्यादा होने से नहीं बदलती। एक परिवार भी हो तो उसकी सुरक्षा और बराबरी की ज़िम्मेदारी रहती है। बड़ी आबादी हो तो भी हर व्यक्ति के अधिकार और अपराध की व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी अलग देखी जाएगी।

हम जनसंख्या को डर की कहानी से बाहर निकालकर सार्वजनिक ज़रूरत की जानकारी बनाना चाहते हैं। कितने बच्चे स्कूल की उम्र में हैं, कितने बुजुर्ग इलाज चाहते हैं, किस इलाके में रहने और रोज़गार की मुश्किल है? ऐसे सवाल संख्या को उपयोगी बनाते हैं। कुल तादाद पर लंबी बहस और ज़रूरी सेवा पर खामोशी समाज को आगे नहीं ले जाएगी। आबादी का सही इस्तेमाल योजना में होना चाहिए। जिस घर को गिना गया, उस घर तक सरकारी सुविधा भी पहुँचे, यही जनगणना और नागरिक ज़िंदगी के बीच ज़रूरी रिश्ता है। गिनती का सम्मान तभी पूरा होगा जब उसके आधार पर ज़रूरी सेवा मज़बूत बने।

अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण, जिसे AISHE कहते हैं, की 2023-24 की रिपोर्ट में मुस्लिम विद्यार्थियों का अनुमानित नामांकन 22,52,799 है। यह जानकारी रिपोर्ट के खंड 2.2.2 और तालिका 15 में दर्ज है। रिपोर्ट 8 जुलाई 2026 को जारी हुई थी, लेकिन इसके आँकड़े अध्ययन वर्ष 2023-24 के हैं। इसलिए रिपोर्ट जारी होने का साल और आँकड़ों का साल अलग समझना चाहिए। इसे 2026 में पढ़ रहे सभी विद्यार्थियों की गिनती नहीं माना जा सकता।

रिपोर्ट में मुस्लिम नामांकन 2014-15 के लगभग 15.3 लाख से 2023-24 में लगभग 22.5 लाख होने की जानकारी है। संख्या बढ़ना अहम है। इसका सम्मान करें। लेकिन बढ़ी संख्या से यह नहीं कह सकते कि अवसर का पूरा सवाल हल हो गया। उसी के साथ कुल नामांकन, आबादी के संबंधित उम्र के समूह और संस्थानों तक पहुँच का सवाल भी देखना होगा।

यहाँ एक आम गलती से बचें। मुस्लिम आबादी का 2011 का प्रतिशत और उच्च तालीम के किसी दूसरे वर्ष का हिस्सा एक जैसी दर नहीं हैं। एक पूरे देश के निवासियों का हिस्सा है, दूसरा सर्वेक्षण में उच्च तालीम के विद्यार्थियों का। उनकी तुलना सवाल उठा सकती है, मगर उसे बिना आयु और आधार समझे समुदाय की कॉलेज पहुँच की अंतिम दर नहीं कहा जा सकता।

पढ़ाई का सवाल सिर्फ़ दाखिला मिलने का नहीं। विद्यार्थी किस विषय में है, संस्थान में पढ़ाई कैसी है, वह डिग्री पूरी कर पा रहा है या नहीं, और आगे का अवसर क्या है? परिवार अपना समय और पैसा लगा रहा है। उसे सिर्फ़ नामांकन की खुशी नहीं, सीखने और आगे बढ़ने का भरोसा भी चाहिए।

हम इस बढ़त में नौजवानों की मेहनत और परिवारों का सहयोग देखें। पहली बार कॉलेज पहुँचा छात्र अक्सर रास्ता खुद सीखता है। समाज उसे सिर्फ़ सफलता की तस्वीर में याद न करे। उसके रहने, किताब, मार्गदर्शन और परीक्षा की ज़रूरत में भी साथ दे। संख्या की बढ़त को स्थायी उपलब्धि बनाने के लिए इन्हीं छोटे सहारों की ज़रूरत होती है। ज़्यादा बच्चे दाखिला लें और अच्छी तैयारी के साथ बाहर निकलें, तभी तालीम का विस्तार घरों की ज़िंदगी में ज़्यादा गहरा असर डालेगा। पढ़ाई आगे बेहतर अवसर की तैयारी बननी चाहिए।

AISHE 2023-24 की तालिका 15 में मुस्लिम विद्यार्थियों का अनुमानित कुल नामांकन 22,52,799 और मुस्लिम छात्राओं का नामांकन 11,65,295 दर्ज है। रिपोर्ट के खंड 2.2.2 और चित्र 12 में मुस्लिम नामांकन के भीतर छात्राओं का हिस्सा लगभग 51.7 प्रतिशत बताया गया है। यह अहम जानकारी है, लेकिन इसका मतलब सही सीमा में समझना चाहिए। यह उच्च शिक्षा में दर्ज मुस्लिम नामांकन के भीतर छात्राओं का हिस्सा है; सभी मुस्लिम लड़कियों की कॉलेज पहुँच का प्रतिशत नहीं। इन आँकड़ों से पूरे समुदाय की लड़कियों के अवसर या उनकी पढ़ने की इच्छा का अंतिम निष्कर्ष भी नहीं निकाला जा सकता।

किसी समूह में छात्राओं का हिस्सा आधे से ज़्यादा होने के पीछे कई हालात हो सकते हैं। लड़कियों का नामांकन बढ़ा हो, लड़कों का रास्ता अलग बदला हो, या दोनों प्रक्रियाएँ साथ हों। सिर्फ़ एक अनुपात से हर कारण तय नहीं होता। इसलिए उपलब्धि का स्वागत करें, लेकिन अगला सवाल भी पूछें कि पीछे रह गई लड़कियों तक पहुँच कैसे बने।

एक छात्रा कॉलेज आती है तो उसके साथ परिवार का भरोसा भी आता है। कभी माँ ने खर्च बचाया, कभी पिता ने दूरी की चिंता के बावजूद साथ दिया, कभी भाई-बहन ने घर का काम बाँटा। इन कोशिशों को सम्मान देना चाहिए। फिर भी उसके रास्ते की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ परिवार पर नहीं। सुरक्षित आना-जाना, अच्छा संस्थान और उचित सुविधा सार्वजनिक व्यवस्था के सवाल हैं।

तालीम का फायदा तभी ज़्यादा होगा जब लड़की पढ़ाई पूरी कर सके और अपनी पसंद के आगे के रास्ते तक पहुँचे। सिर्फ़ प्रमाणपत्र लेकर घर की मजबूरियों में बँध जाना हमेशा लड़की की अपनी मर्ज़ी नहीं होती। नौकरी, शोध, पेशेवर प्रशिक्षण और अपने कारोबार के अवसर उसके सामने भी खुलने चाहिए। उसके फ़ैसले को गंभीरता से सुनना ज़रूरी है।

हमारे लिए यह आँकड़ा उम्मीद का आधार है। उम्मीद को असल सहारे से जोड़ें। गरीब परिवार की छात्रा को किताब और जानकारी मिले, पहली पीढ़ी की लड़की को विषय चुनने में मदद मिले, और किसी की पढ़ाई को सिर्फ़ शादी तक का इंतज़ार न समझा जाए। एक शिक्षित महिला का सम्मान उसकी अपनी नागरिक हैसियत में है। समाज जब यह बात मानकर चलता है तो तालीम की संख्या सिर्फ़ रिपोर्ट का अंक नहीं रहती, वह बराबरी की नई आदत में बदलने लगती है। यह भरोसा बनाए रखें।

रोज़गार के आँकड़ों में तीन नाम समझना जरूरी है। श्रम बल में भागीदारी की दर, यानी LFPR, बताती है कि संबंधित आबादी में कितने लोग काम कर रहे हैं या काम खोज रहे हैं अथवा काम के लिए उपलब्ध हैं। कामगार अनुपात, यानी WPR, बताता है कि उसी आबादी में कितने लोग वास्तव में काम कर रहे हैं। बेरोज़गारी की दर, यानी UR, पूरे लोगों में नहीं, श्रम बल के भीतर बेरोज़गार लोगों का हिस्सा बताती है। तुलना करते समय उम्र का समूह, गाँव या शहर और सर्वेक्षण का तरीका एक जैसा रखें। काम की कमाई और सुरक्षा इन दरों से अलग सवाल हैं।

आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण, यानी PLFS, की 2023-24 की रिपोर्ट में प्रमुख मज़हबी समूहों की कामकाज की अलग जानकारी उपलब्ध है। उसमें गाँव और शहर तथा महिला और पुरुष के अंतर भी देखे जा सकते हैं। यह जानकारी उपयोगी है, मगर तालिका का उम्र संबंधी आधार और काम की परिभाषा पहले समझनी होगी। बच्चे सहित आबादी का माप और सिर्फ़ काम की उम्र वाले व्यक्तियों का माप अलग हो सकता है। यहाँ इन दरों का मतलब समझाया गया है; मुस्लिम समुदाय की रोज़गार संबंधी नई तुलनात्मक दरें इस हिस्से में प्रस्तुत नहीं की गई हैं।

मान लीजिए किसी परिवार का युवक दुकान पर रोज़ मदद करता है। उसकी स्थिति उस व्यक्ति से अलग हो सकती है जो नियमित वेतन पर काम करता है। कोई महिला घर के कारोबार में काम करती है, उसका काम पहचान में आना भी अहम है। इसलिए रोज़गार को सिर्फ़ नियुक्ति पत्र से नहीं मापा जाता। सर्वेक्षण तय परिभाषाओं के मुताबिक अलग कामों को देखता है।

बेरोज़गारी की कम दर सुनकर तुरंत यह नतीजा न निकालें कि सबकी कमाई अच्छी है। गरीब आदमी लंबे समय तक बिना काम बैठ नहीं सकता। वह कम दाम और अनिश्चित काम भी स्वीकार कर सकता है। दूसरी तरफ़ श्रम बल से बाहर होना हमेशा आराम की हालत नहीं। पढ़ाई, देखभाल की ज़िम्मेदारी और अवसर की कमी भी उसकी वजह हो सकती है।

मुस्लिम समाज के रोज़गार को समझते समय इन फ़र्कों की ज़रूरत है। छोटा कारोबार, मजदूरी, नौकरी और कारीगरी अलग स्थिति रखते हैं। हर काम में कमाई और सुरक्षा देखें। हमें सिर्फ़ काम मिला या नहीं, इतना नहीं पूछना; काम से घर कितनी मज़बूती से चल रहा है, यह भी पूछना चाहिए। इसी से प्रशिक्षण, पैसे की मदद और श्रम संरक्षण की ज़रूरत साफ़ होगी। आँकड़ा रास्ता दिखाए, लेकिन काम करने वाले आदमी की असल तकलीफ़ सुनना बंद न हो। कमाई पर भी सवाल पूछें।

किसी युवक की अच्छी डिग्री और कम आमदनी के बीच दूरी हो तो परिवार परेशान होता है। उसने पढ़ाई पर खर्च किया, समय लगाया और उम्मीद रखी। अब उसे लगता है कि तालीम से क्या मिला? इस सवाल का जवाब सिर्फ युवक की कमी बताकर नहीं देना चाहिए। रोज़गार की उपलब्धता, पढ़ाई के स्तर और हुनर का मेल भी देखना होगा।

कई मेहनतकश परिवारों में पढ़ा हुआ पहला बच्चा अपने काम की दुनिया अकेले समझता है। कौन सा संस्थान सही है, अनुभव कैसे मिलेगा, आवेदन का तरीका क्या है और पेशेवर बातचीत कैसे की जाए? ये बातें घर में कोई नहीं सिखा पाता। इसलिए पढ़े हुए लोगों की छोटी सलाह भी उसके लिए बड़ी मदद हो सकती है।

भेदभाव की शिकायत आए तो उसे गंभीरता से सुनें। लेकिन कहीं नौकरी न मिलने से उसकी वजह का आखिरी फैसला तुरंत न करें। उपलब्ध तथ्य, चयन की शर्त और संबंधित व्यवहार देखें। न शिकायतकर्ता को पहले से गलत कहा जाए, न अनुमान को साबित तथ्य बनाया जाए। इंसाफ़ की कोशिश साफ़ जानकारी से मज़बूत होती है।

पारंपरिक काम में भी नई तैयारी का सवाल है। कारीगर का हुनर बहुत अच्छा हो सकता है, मगर बिक्री, लागत और नई तकनीक समझने की ज़रूरत रह सकती है। पुराने काम को सम्मान देना तभी पूरा होगा जब मेहनत का सही दाम भी मिले। हम विरासत की तारीफ़ करें और बनाने वाले को कम पैसे दें, तो हमारी तारीफ़ अधूरी है।

सरकार, संस्थान और समाज मिलकर पढ़ाई से काम तक का रास्ता आसान कर सकते हैं। प्रशिक्षण उपयोगी हो, अभ्यास का अवसर मिले और बाज़ार की जानकारी समझाई जाए। लड़कियों के लिए काम तक पहुँच में सुरक्षित आना-जाना और ज़िम्मेदारी का बँटवारा भी ज़रूरी है। एक नौजवान की सफलता से खुशी मिलती है, लेकिन पूरे समाज की बेहतरी के लिए अनेक घरों तक यही रास्ता खुलना चाहिए। रोज़गार की चर्चा में सम्मान और आय दोनों साथ रहें। सिर्फ़ ऊँचे पद की चाह से कम दाम पर काम करने वाले हजारों लोगों की हालत गायब न हो जाए। उनकी मेहनत भी मुल्क की अर्थव्यवस्था को चलाती है।

प्रतिनिधित्व का सवाल सिर्फ़ चुनाव जीतने वालों की गिनती नहीं है। संसद, विधानसभा, स्थानीय निकाय, प्रशासन और सार्वजनिक संस्थानों में नागरिक की आवाज़ कैसे पहुँचती है, यह बड़ा सवाल है। लेकिन जहाँ मज़हबवार भरोसेमंद गिनती उपलब्ध नहीं, वहाँ नाम देखकर लोगों की मज़हबी पहचान तय करके संख्या बनाना उचित नहीं। अनुमान को सरकारी तालिका का रूप देना गलत होगा।

हमें यह भी समझना चाहिए कि एक मुस्लिम प्रतिनिधि होना और मुस्लिम नागरिकों के सवाल पर असरदार काम होना अलग बातें हैं। पहचान अनुभव समझने में मदद कर सकती है। फिर भी प्रतिनिधि को जनता के सामने अपने काम का जवाब देना होगा। तालीम, स्वास्थ्य, सुरक्षा और रोज़गार पर उसने क्या किया? अपने क्षेत्र के कमज़ोर परिवारों तक पहुँचा या सिर्फ़ रसूखदार लोगों तक रहा? यही अहम सवाल हैं।

दूसरे धर्म का जनप्रतिनिधि भी मुस्लिम नागरिक की ज़िम्मेदारी से मुक्त नहीं। वह जिस जनता का प्रतिनिधित्व करता है, उसमें सभी नागरिक शामिल हैं। सार्वजनिक सेवा किसी निजी सामुदायिक रिश्ते पर निर्भर नहीं होनी चाहिए। अपने जैसे नाम वाले व्यक्ति से उम्मीद रखना समझ आता है, मगर बाकी प्रतिनिधियों से अधिकार माँगना भी उतना ही ज़रूरी है।

समुदाय के भीतर प्रतिनिधित्व की बात भी करें। महिलाएँ कहाँ हैं? पिछड़े और मेहनतकश तबकों की आवाज़ कितनी है? नौजवान फ़ैसलों में शामिल हैं या सिर्फ़ सभा की भीड़ हैं? अगर वही कुछ परिवार लगातार बोलें और कमज़ोर लोग सुनते रहें, तो बाहर हिस्सेदारी की माँग अपने भीतर अधूरी रहेगी।

राजनीतिक जागरूकता का मतलब हर बात पर शोर नहीं है। मतदाता अपने प्रतिनिधि से साफ़ काम माँगे, चुनावी वादा याद रखे और संबंधित विभाग की ज़िम्मेदारी समझे। उसकी आवाज़ चुनाव के दिन से आगे भी रहे। संख्या का सवाल अपनी जगह अहम है, लेकिन उसकी मंजिल जवाबदेह प्रतिनिधित्व है। किसी कुर्सी पर अपना आदमी देखकर खुशी हो सकती है; उस कुर्सी से सबके लिए इंसाफ़ होता दिखे तो भरोसा बनता है। लोकतंत्र की बेहतरी इसी भरोसे में है। मुस्लिम नागरिक अपनी बात मज़बूती से रखे और साथ ही साझा सार्वजनिक हित को भी अपनी ज़िम्मेदारी का हिस्सा समझे। इसी में प्रतिनिधित्व की असल परीक्षा है।

जनप्रतिनिधि से सवाल पूछने के लिए चुनाव आने का इंतज़ार ज़रूरी नहीं। किसी बस्ती में स्कूल की हालत खराब है, अस्पताल में सुविधा कम है या सड़क का काम रुका है, तो नागरिक अपनी बात पूरे साल रख सकता है। उसकी माँग किसी नेता से निजी एहसान माँगना नहीं है। वह सरकारी ज़िम्मेदारी पर जवाब चाहता है।

इस काम की शुरुआत शिकायत को साफ़ लिखने से हो सकती है। जगह कौन सी है, परेशानी कितने समय से है और पहले किस विभाग को बताया गया? उपलब्ध कागज़ और जवाब साथ रखिए। अगर विद्यालय में शिक्षक की कमी है तो सिर्फ़ सरकार खराब है कहना काफ़ी नहीं। पूछा जाए कि पद कितने हैं, खाली कितने हैं और नियुक्ति के लिए ज़िम्मेदार कौन है।

मोहल्ले की बैठक में अलग लोगों को बोलने का मौका मिले। दुकानदार की ज़रूरत और दिहाड़ी मजदूर की ज़रूरत हमेशा एक जैसी नहीं होती। लड़की स्कूल के रास्ते की मुश्किल बताए तो उसे छोटी बात कहकर रोकना ठीक नहीं। बुजुर्ग अस्पताल तक पहुँचने का अनुभव रखे तो उसकी बात भी दर्ज हो। साझा माँग तभी बनेगी जब कमज़ोर आवाज़ उसमें शामिल होगी।

प्रतिनिधि कोई काम कराने का भरोसा दे तो पूछ सकते हैं कि आगे क्या हुआ। पत्र भेजा गया, प्रस्ताव मंजूर हुआ और काम पूरा हुआ, ये अलग पड़ाव हैं। तारीख और ज़िम्मेदार विभाग की पहचान रहे तो नागरिक को मालूम होगा कि बात कहाँ पहुँची। जवाब न मिले तो उपलब्ध शिकायत और सूचना के रास्ते समझे जाएँ। सम्मान के साथ लगातार पूछना लोकतांत्रिक भागीदारी है।

हमारी तरफ भी ईमानदारी ज़रूरी है। जो सुविधा बन गई, उसे स्वीकार करें। काम में कमी है तो उसका सबूत रखें। अपने पसंदीदा नेता की गलती छिपाना और दूसरे का हर काम नकारना नागरिक हित को नुकसान देता है। सार्वजनिक पैसा सबका है, इसलिए उसके नतीजे का सवाल भी सबका होना चाहिए। मुसलमान अपनी खास परेशानी रखे और पड़ोसी की ज़रूरत भी सुने। पानी, तालीम और इलाज की साझी माँग लोगों को करीब ला सकती है। ऐसी हिस्सेदारी में पहचान का सम्मान भी रहेगा और मुल्क की बेहतरी की ज़िम्मेदारी भी।

अध्याय 18 – 2026 तक कानूनी स्थिति और आगे के सवाल

किताब के अंतिम अध्याय में पहुँचकर हमें शुरुआत का बुनियादी सवाल फिर याद करना चाहिए। हिंदुस्तानी मुसलमान संविधान में कहाँ खड़ा है? इसका पहला जवाब नागरिक के बराबर संवैधानिक दर्जे में है। उसके अधिकार किसी नेता की मेहरबानी से शुरू नहीं होते। संविधान के आम संरक्षण उसके लिए भी हैं, और मज़हबी तथा भाषाई अल्पसंख्यकों से जुड़े विशेष प्रावधान अपनी जगह मौजूद हैं।

अनुच्छेद 14 की बराबरी, अनुच्छेद 15 और 16 के संबंधित संरक्षण, जीवन और व्यक्तिगत आज़ादी तथा धर्म की आज़ादी के प्रावधान हमें इसी ढाँचे तक लाते हैं। तालीम और संस्कृति के सवालों में अनुच्छेद 29 और 30 का अपना महत्व है। इन अधिकारों की कानूनी सीमाएँ और लागू होने की शर्तें भी हैं। इसलिए उन्हें पढ़ना ज़रूरी है, सिर्फ़ संख्या याद करना काफ़ी नहीं।

2026 तक की कानूनी स्थिति पर बात करते समय एक ही वाक्य में सब कुछ समेटना संभव नहीं। अलग कानून की अलग यात्रा है। कुछ जगह संसद का कानून बदला, कहीं नियम बने, कहीं अदालत ने व्याख्या की और कहीं अंतरिम संरक्षण का सवाल उठा। इस अध्याय में हम अहम पड़ावों को उनकी तारीख के साथ रखेंगे। इसे हर प्रदेश और हर मुकदमे की अंतिम व्यक्तिगत स्थिति का प्रमाणपत्र नहीं मानना चाहिए।

नागरिक की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में इस फ़र्क का सीधा असर है। उसकी परेशानी विवाह की है तो संबंधित कानून और तथ्य देखे जाएँगे। संपत्ति की है तो रिकॉर्ड और सक्षम प्रक्रिया अहम होंगे। तालीम की है तो संस्थान और लागू अधिकार का सवाल आएगा। सब विषयों को सिर्फ़ मज़हबी बहस में बदल देना राहत का रास्ता छोटा कर सकता है।

हमारी दरखास्त यह है कि संविधान को दूर की बड़ी किताब समझकर छोड़ न दिया जाए। वह सरकारी दफ़्तर में व्यवहार, अदालत में सुनवाई और आम अवसर की बात से जुड़ा है। नागरिक अपनी पहचान का सम्मान रखते हुए कानून का सही मतलब समझे। मज़बूत आवाज़ वही है जो अपना तथ्य भी साफ़ रखती है और अपनी माँग का आधार भी जानती है। इस समझ से अंतिम पन्नों की चर्चा बढ़ेगी और भविष्य के लिए हमारी ज़िम्मेदारी ज़्यादा साफ़ होगी।

भरण-पोषण की चर्चा में मुस्लिम महिला का सवाल अदालत और संसद के सामने रहा है। शाह बानो, 1986 का कानून और बाद की न्यायिक व्याख्याएँ इस यात्रा के अलग पड़ाव हैं। इन्हें एक ही विवाद का नाम देकर छोड़ देने से महिला की असल ज़रूरत पीछे रह जाती है। उसके लिए सवाल घर चलाने, इज़्ज़त से जीने और सही मदद तक पहुँचने का है।

10 जुलाई 2024 के मोहम्मद अब्दुल समद मामले में सुप्रीम कोर्ट ने साफ़ किया कि आम भरण-पोषण का कानूनी रास्ता तलाक़शुदा मुस्लिम महिला के लिए भी उपलब्ध है। इसे यह कहने के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहिए कि हर मामले में बिना सुनवाई एक समान रकम तय हो गई। ज़रूरत, साधन, संबंधित कानून और मामले के तथ्य अहम रहते हैं।

पुरानी दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 और भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 की धारा 144 का संबंध भी समझना होगा। धारा 144 भरण-पोषण की व्यवस्था से जुड़ी है, जबकि धारा 531 में पुरानी लंबित कार्यवाहियों को बचाने वाले प्रावधान हैं। इसलिए नए आवेदन और पहले से चल रहे मुकदमे की प्रक्रिया अलग हो सकती है। सिर्फ़ धारा का नया नंबर लिखकर हर पुराने मामले की स्थिति तय नहीं होती। संबंधित फ़ाइल, कार्यवाही की तारीख और लागू प्रक्रिया देखनी चाहिए।

हमारी सामाजिक बातचीत में महिला की मदद को परिवार की बदनामी से जोड़ दिया जाता है। यह रवैया उसकी मुश्किल बढ़ाता है। अगर उसका ज़रूरी खर्च नहीं चल रहा, तो उसकी बात सुनना और रास्ता समझाना परिवार तथा समाज की ज़िम्मेदारी है। मज़हबी पहचान के नाम पर उसकी आवाज़ को कमज़ोर करना इंसान की बात नहीं हो सकती।

भरण-पोषण का मतलब सिर्फ़ किसी मुकदमे में जीत नहीं। समय पर सहायता और उसके अमल का सवाल भी है। आदेश मिला, लेकिन भुगतान नहीं हुआ, तो उसकी ज़िंदगी का संकट कायम रह सकता है। इसीलिए कानूनी जानकारी के साथ अमली मदद ज़रूरी है। उपलब्ध दस्तावेज़ सुरक्षित रहें, स्थिति साफ़ बताई जाए और जानकार मदद मिले। महिला को यह भरोसा होना चाहिए कि अपने अधिकार की बात करना इज़्ज़त छोड़ना नहीं। कानून की चर्चा तब सही दिशा में जाती है जब उसमें उस व्यक्ति की ज़िंदगी दिखाई देती है जिसके लिए प्रावधान बनाया गया और जिसकी ज़रूरत अक्सर बहस के शोर में दब जाती है।

तीन तलाक़ के विषय पर हमें शब्दों की सीमा साफ़ रखनी चाहिए। तुरंत और वापस न हो सकने वाले तलाक़ की जिस घोषणा को 2019 के कानून में परिभाषित किया गया, उसी विषय का कानूनी ढाँचा है। उसे मुस्लिम विवाह के हर प्रकार के विवाद या हर तलाक़ की एक जैसी व्यवस्था कह देना ठीक नहीं।

मुस्लिम महिला (विवाह अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 2019 में ऐसी परिभाषित घोषणा को बेअसर और ग़ैरकानूनी कहा गया है। कानून में सज़ा, गुज़ारे की मदद और बच्चों की अभिरक्षा से जुड़े प्रावधान हैं। शिकायत, जमानत और समझौते की शर्तें अलग पढ़नी होंगी। किसी खबर की छोटी पंक्ति से इन सबका पूरा मतलब नहीं मिलता।

इस कानून पर समर्थन और आलोचना दोनों हुई हैं। कोई पक्ष महिला संरक्षण का महत्व रखता है, कोई सज़ा की व्यवस्था के असर पर सवाल उठाता है। इन बहसों को पढ़ा जा सकता है। लेकिन सार्वजनिक मतभेद और लागू कानूनी पाठ अलग सवाल हैं। अपनी राजनीतिक पसंद के कारण कानून की मौजूद शर्तों को बदलकर बताना नागरिक की मदद नहीं।

किसी परिवार की परेशानी में सबसे पहले तथ्य देखें। किस प्रकार की बात कही गई, महिला की स्थिति क्या है, बच्चे किसके पास हैं और तत्काल ज़रूरत क्या है? सिर्फ़ यह कह देना कि अब कानून है, काफ़ी सहारा नहीं। उसे सुरक्षित सुनवाई, आर्थिक स्थिति की समझ और उचित मदद की ज़रूरत हो सकती है।

पुरुष की ज़िम्मेदारी को भी सिर्फ़ सज़ा के डर में न समेटें। विवाह में सम्मान, खर्च और व्यवहार की ज़िम्मेदारी कानून से पहले रोज़मर्रा में दिखनी चाहिए। और महिला की इच्छा को हर बार परिवार के दबाव में छिपा देना ठीक नहीं। हमें ऐसी सामाजिक समझ बढ़ानी होगी जिसमें विवाद आने पर अपमान और जल्दबाजी से बचा जाए। कानून अपना काम करेगा; समाज का काम व्यक्ति की बात सुनना, सही जानकारी देना और उसे ज़रूरी सहायता तक पहुँचाना है। किसी परिवार के दुख को बड़े नारे की सामग्री बना देने से संकट कम नहीं होता। इंसान की भाषा तभी विश्वसनीय होगी जब उसमें प्रभावित महिला और बच्चों का सम्मान तथा असल ज़िंदगी की ज़रूरत साथ रहें।

वक्त्र कानून की यात्रा में 2025 का संशोधन एक अहम पड़ाव है। उसके खिलाफ़ उठे संवैधानिक सवाल अदालत तक पहुँचे। 15 सितंबर 2025 के सुप्रीम कोर्ट आदेश में पूरे संशोधित कानून पर रोक नहीं लगी; कुछ प्रावधानों पर सीमित अंतरिम निर्देश दिए गए। इसलिए उस आदेश को सभी सवालों का अंतिम संवैधानिक फैसला कहना सही नहीं।

वक्त्र से जुड़े किसी खास मुकदमे या संपत्ति की मौजूदा स्थिति जानने के लिए मूल न्यायालय आदेश और उसके बाद की कार्यवाही देखनी होगी। अगली सुनवाई की तारीख वाला कार्यालय रिकॉर्ड उस दिन दिए गए नए फैसले का विकल्प नहीं है। इसलिए किसी स्थानीय जमीन के विवाद को देश की हर वक्त्र संपत्ति का नतीजा मानना सही नहीं होगा।

यही फ़र्क़ हमें सावधानी सिखाता है। नया अधिनियम, उसके नियम, अंतरिम आदेश और किसी संपत्ति का स्थानीय विवाद अलग स्तर हैं। कोई व्यक्ति पुरानी खबर पढ़कर यह मान ले कि अब हर रिकॉर्ड बदल गया, या हर कार्रवाई बंद है, तो उसके लिए जोखिम पैदा हो सकता है। संबंधित संपत्ति की स्थिति उसके कागज़ और लागू आदेश से देखनी होगी।

वक्त्र का सामाजिक मक़सद भी हमारी नज़र से ओझल न हो। तालीम, सहायता और सार्वजनिक भलाई के काम के लिए संपत्ति का सही उपयोग अहम है। लेकिन अच्छे मक़सद से रिकॉर्ड की कमी या गलत प्रबंधन उचित नहीं हो जाता। पारदर्शी हिसाब, ज़िम्मेदार देखरेख और संबंधित लोगों की सुनवाई भरोसे को मज़बूत करते हैं।

हमने पिछले भागों में कानून का इतिहास देखा है। यहाँ सीख यह है कि बदलती कानूनी स्थिति में समय पर नई जानकारी कितनी ज़रूरी है। किसी संस्था को अपने अहम दस्तावेज़ व्यवस्थित रखने चाहिए और विवाद में उचित जानकार सहायता लेनी चाहिए। सार्वजनिक चर्चा में न पूरी जीत का बेबुनियाद दावा हो, न बिना आधार सब कुछ खो जाने की घोषणा। तथ्य, तारीख और आदेश की असल सीमा साथ रखिए। इससे समुदाय अपनी बात ज़्यादा मज़बूती से कह सकेगा और जिन लोगों की तालीम तथा सहायता इन संस्थाओं से जुड़ी है, उनके हित की चर्चा ज़्यादा ज़िम्मेदार ढंग से होगी। यह ज़िम्मेदारी निभाएँ।

नागरिकता पाने के रास्तों में जन्म, पंजीकरण, देशीयकरण और कुछ खास कानूनी व्यवस्थाएँ शामिल हैं। नागरिकता अधिनियम का आम ढाँचा अपनी जगह है। 2019 के संशोधन और उसके बाद बने नियमों ने एक तय श्रेणी के लिए खास व्यवस्था बनाई। उस विशेष रास्ते को हर नागरिक या हर प्रवासी की पूरी स्थिति का जवाब समझना ठीक नहीं।

इस व्यवस्था में देश, समुदाय, प्रवेश की तारीख और संबंधित कानूनी शर्तें अहम हैं। इसलिए सिर्फ़ धर्म का नाम लेकर किसी व्यक्ति की पूरी पात्रता तय नहीं की जा सकती। उसी तरह इस विशेष व्यवस्था की बात को हर भारतीय मुसलमान की नागरिकता अपने आप खत्म होने के दावे में बदलना भी कानून का सही मतलब नहीं। तथ्य और लागू प्रावधान साथ देखने होंगे।

19 अगस्त 2026 की नागरिकता (तृतीय संशोधन) नियमावली में धारा 6B के अंतर्गत बताए गए क्षेत्रों के आवेदनों के लिए कलेक्टर की भूमिका जोड़ी गई। इसमें प्राप्ति, जाँच और निपटारे की प्रक्रिया का सवाल है। इससे अधिनियम की मूल पात्रता की सूची अपने आप नहीं बदल जाती। अधिकारक्षेत्र और अपवाद भी संबंधित पाठ से पढ़ने होंगे।

निवासी होना और नागरिक होना अलग सवाल हैं। किसी एक कागज़ को हर स्थिति में नागरिकता का अंतिम सबूत कह देना या उसके न होने से तुरंत नागरिकता खत्म मान लेना सही मार्गदर्शन नहीं। व्यक्ति के मामले में जन्म, परिवार, पुराने रिकॉर्ड और संबंधित प्रक्रिया अहम हो सकते हैं। अनिश्चितता हो तो जानकार सहायता की ज़रूरत है।

ऐसे विषय में अफवाह बहुत नुकसान करती है। किसी परिवार को डराकर गलत दस्तावेज़ बनवाना या बेवजह पैसा खर्च करवाना मदद नहीं। अपने असल रिकॉर्ड सुरक्षित रखें, आधिकारिक सूचना समझें और ज़रूरत हो तो उचित कानूनी रास्ता लें। नागरिकता का सवाल आदमी के जीवन और सुरक्षा से जुड़ा है, इसलिए इसकी भाषा ज़िम्मेदार होनी चाहिए। हम असहमति और नीति की आलोचना कर सकते हैं, लेकिन कानून के नाम पर ऐसी बात न फैलाएँ जो उसमें लिखी नहीं है। नागरिक को सही जानकारी देकर मज़बूत करना सार्वजनिक चर्चा की पहली ज़िम्मेदारी है। डर के बीच उसकी इज़ाज़त और समझ दोनों की हिफ़ाज़त ज़रूरी है।

परिवार से जुड़े कानूनों की चर्चा में राष्ट्रीय बहस और राज्य की लागू व्यवस्था अलग देखनी होगी। उत्तराखंड का समान नागरिक संहिता कानून और उसके नियम इस फ़र्क़ का उदाहरण हैं। राज्य के सरकारी पोर्टल पर 2025 के नियम और बाद के संशोधनों के साथ 7 अप्रैल 2026 की अधिसूचना संख्या 101/XXXVI(3)/2026/32(1)/2026 में प्रकाशित समान नागरिक संहिता, उत्तराखंड (संशोधन) अधिनियम, 2026 का संदर्भ उपलब्ध है। इसलिए पुरानी घोषणा पढ़कर आज का पूरा नियम नहीं बताया जा सकता।

एक प्रदेश का कानून पूरे हिंदुस्तान में लागू राष्ट्रीय कानून बन गया, ऐसा मानना गलत होगा। उसके क्षेत्रीय दायरे, निवासी संबंधी व्यवस्था, विषय और अपवाद देखना ज़रूरी है। किसी परिवार के विवाह, उत्तराधिकार या पंजीकरण का सवाल आए तो संबंधित मौजूदा नियम और तथ्य मिलाए जाएँ। राज्य का नाम सुनकर हर व्यक्ति की स्थिति तय नहीं होती।

संविधान के अनुच्छेद 44 में समान नागरिक संहिता का विषय नीति निदेशक तत्व के रूप में है। नीति निदेशक तत्व और अपने आप लागू व्यक्तिगत प्रक्रिया अलग बातें हैं। किसी विचार का संविधान में ज़िक्र होना और उसके लिए विशेष कानून तथा नियम बनना एक जैसी अवस्था नहीं। इस फ़र्क़ से बहस ज़्यादा साफ़ होती है।

यह विषय मज़हबी पहचान, महिलाओं के अधिकार, परिवार और प्रशासन तक जाता है। इसलिए इसमें लोगों की बात सुनने का सब्र चाहिए। कोई परिवार नई व्यवस्था को लेकर चिंतित हो तो उसे सिर्फ़ बदलाव का दुश्मन कहकर चुप न कराएँ। किसी महिला की बराबरी की माँग हो तो उसे सिर्फ़ समुदाय की बहस में गायब भी न करें। गंभीर कानून चर्चा दोनों को सम्मान देती है।

हमारी दरख्वास्त यह है कि सुधार की किसी व्यवस्था को उसके असल नतीजे से परखा जाए। जानकारी सरल है या नहीं, पंजीकरण का रास्ता समझ आता है या नहीं, गरीब परिवार के लिए सहायता उपलब्ध है या नहीं? कानून का नाम बड़ा हो सकता है, मगर नागरिक के लिए उसका अनुभव दप्तर और प्रक्रिया से बनता है। 2026 तक की चर्चा में यही अनुभव अहम रहेगा। न बिना पढ़े डर फैलाया जाए, न मूल पाठ की शर्तें छिपाकर आसान वादा किया जाए। अधिकार, ज़िम्मेदारी और सुनवाई को साथ रखकर ही परिवार से जुड़े बदलते सवाल पर भरोसेमंद बातचीत संभव होगी।

आगे के सवाल सिर्फ़ नए कानूनों के नाम नहीं हैं। पुराने अधिकार का अमल भी अहम है। अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों का संरक्षण हो, पिछड़े वर्ग की पात्रता हो या किसी गरीब की शिकायत, नागरिक को अपने लिए बने रास्ते तक पहुँच मिलनी चाहिए। कागज़ में अधिकार और जीवन में उसका उपयोग अलग रह जाए तो सुधार की ज़रूरत बनी रहती है।

इंसाफ़ तक पहुँच में भाषा और खर्च की मुश्किल है। किसी परिवार को आदेश की प्रति मिली, लेकिन उसका मतलब नहीं समझ आया। कोई मजदूर सुनवाई के लिए जाए तो दिन की कमाई छूटे। कोई महिला अपनी परेशानी बता ही न सके। ऐसी बाधाओं को देखकर कानूनी सहायता और समझने योग्य जानकारी की ज़रूरत साफ़ होती है।

समुदाय के भीतर छोटे सहायता मंच उपयोगी हो सकते हैं। वे लोगों की बात लिखें, दस्तावेज़ व्यवस्थित करें और संस्थान तक पहुँचने में मदद दें। लेकिन खुद को हर कानून का जानकार न बताएँ। जहाँ विशेषज्ञ की ज़रूरत है, वहाँ साफ़ कहें। गलत विश्वास दिलाने से गरीब आदमी का समय और अवसर दोनों नुकसान में जा सकते हैं।

महिलाओं, युवाओं और मेहनतकश तबकों की आवाज़ आगे की बहस में आए। समाज का भविष्य सिर्फ़ कुछ प्रतिनिधियों की बातचीत से तय नहीं होना चाहिए। जिसकी ज़िंदगी पर नियम का असर पड़ेगा, उसका अनुभव भी सुना जाए। आलोचना करने का अधिकार और दूसरों की बात सुनने की ज़िम्मेदारी साथ रहें। इससे समाज की सार्वजनिक सोच बड़ी बनेगी।

हमारा लोकतांत्रिक रास्ता तथ्यों वाली माँग, शांतिपूर्ण भागीदारी और जवाबदेही का रास्ता है। शिकायत का सही मंच इस्तेमाल करें, जनप्रतिनिधि से काम पूछें और उपलब्ध जानकारी समझें। किसी दूसरे समुदाय के आम नागरिक को अपनी परेशानी का दुश्मन बनाना उचित नहीं। अच्छी तालीम, सुरक्षित जीवन और निष्पक्ष प्रशासन की ज़रूरत साझा है। खास नाइंसाफ़ी का सवाल इसी साझी नागरिक ज़मीन पर मज़बूती से रखा जा सकता है। भविष्य में कानून बदलेगा, नई रिपोर्ट आएगी और नए विवाद उठेंगे। हमारी तैयारी यह हो कि हर बदलाव को समझें, अपने कमज़ोर लोगों का साथ दें और इंसाफ़ की माँग को समझ तथा इंसानी सम्मान से अलग न होने दें।

इस सफ़र के अंत में मैं यही बात रखना चाहता हूँ कि हिंदुस्तानी मुसलमान का भविष्य सिर्फ़ किसी चुनाव, एक कानून या एक नेता के वादे में बंद नहीं है। वह उसकी अपनी मेहनत, बच्चों की तालीम, समाज की ज़िम्मेदारी और राज्य के निष्पक्ष व्यवहार से जुड़ा है। संविधान इन सबके बीच नागरिक की बराबर हैसियत का आधार देता है।

हमने आज़ादी के बाद की संवैधानिक सोच से शुरू करके कानूनों के बदलाव, अदालतों की भूमिका और सरकारी नीतियों तक बात की। कहीं इतिहास मिला, कहीं मौजूदा आदेश और कहीं ऐसी संख्या जो आगे के सवाल खोलती है। हर जगह कोशिश यही रही कि घोषणा को नतीजा न मानें और नागरिक की ज़िंदगी को चर्चा से बाहर न होने दें।

इस किताब में मेरी दरखास्त सिर्फ़ जानकारी हासिल करना नहीं है। अपने घर में लड़की की पढ़ाई को सम्मान दीजिए। मोहल्ले के गरीब बच्चे को रास्ता समझाइए। मेहनतकश आदमी की आवाज़ सुनिए। किसी अफवाह को आगे भेजने से पहले उसका आधार देखिए। अपने प्रतिनिधि से काम पूछिए और अपने अधिकार की बात तथ्य के साथ रखिए। ऐसी छोटी आदतें मिलकर समाज की बड़ी ताक़त बनती हैं।

अपनी पहचान से लगाव और मुल्क के साझा भविष्य की ज़िम्मेदारी साथ चल सकती है। दूसरे नागरिक की इज़ज़त से हमारी इज़ज़त कम नहीं होती। उसकी सुरक्षा की माँग से हमारा अधिकार कमज़ोर नहीं पड़ता। जिस इंसान की उम्मीद हम अपने लिए रखते हैं, उसी का सम्मान दूसरों के लिए भी करना होगा। यही संवैधानिक बराबरी का इंसानी मतलब है।

नई पीढ़ी को डर और शिकायत की विरासत भर न दें। उसे समझ, हिम्मत और ज़िम्मेदारी भी दें। वह सवाल पूछे, पढ़े, काम सीखे और अपने आसपास सुधार की कोशिश करे। उम्मीद तब टिकती है जब उसके साथ रास्ता और मेहनत मौजूद हों। मैं इस किताब को इसी उम्मीद के साथ पाठक के सामने रखता हूँ। हमारे बच्चों का कल सुरक्षित हो, कमज़ोर घरों तक अवसर पहुँचे और हर नागरिक को अपना हक़ माँगते समय सिर झुकाना न पड़े। हिंदुस्तान की बेहतरी का ख़वाब हमारा भी है, उसे सच करने की ज़िम्मेदारी हमारी है।

परिशिष्ट – कानून, शब्दावली और मूल स्रोत

परिशिष्ट एक – कानूनवार समयरेखा

पिछले हिस्सों में ये मुद्दे समझाए गए हैं। यहाँ उन्हीं मुद्दों को तारीखों के क्रम में रखा गया है, ताकि पाठक किसी कानून, फैसले या रिपोर्ट को उसकी जगह पर रख सके। इस समयरेखा में चुने पड़ाव हैं। इसमें हर घटना नहीं है। मक़सद यह समझना है कि एक व्यवस्था कैसे बनी, उसके बाद क्या बदला और किन सवालों पर आगे बहस चली।

आज़ादी से पहले के दो कानून इस सिलसिले में याद रखने चाहिए। मुस्लिम पर्सनल लॉ शरीयत एप्लिकेशन अधिनियम, 1937 ने बताए गए विषयों में मुसलमान पक्षों के लिए व्यक्तिगत कानून के इस्तेमाल का आधार रखा। मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, 1939 ने मुस्लिम महिला के अदालत से विवाह खत्म कराने के आधार साफ़ किए। इसलिए महिलाओं को अदालत से मिलने वाली मदद की चर्चा सिर्फ़ हाल के बरसों से शुरू करना इतिहास को अधूरा पढ़ना होगा।

15 अगस्त 1947 को हिंदुस्तान आज़ाद हुआ। मगर आज़ादी की तारीख और संविधान के लागू होने की तारीख एक नहीं हैं। संविधान सभा ने 26 नवंबर 1949 को संविधान अपनाया। उसका मुख्य ढाँचा 26 जनवरी 1950 से लागू हुआ। कुछ प्रावधान पहले लागू हुए थे। इन तारीखों को अलग रखने से वह भ्रम दूर होता है जिसमें संविधान बनने, अपनाए जाने और गणतंत्र की शुरुआत को एक ही घटना समझ लिया जाता है।

संवैधानिक ढाँचे में बराबरी, मज़हबी आज़ादी और अल्पसंख्यकों की तालीमी पहचान के सवाल अपनी जगह पाए। अनुच्छेद 14, 15, 16, 25, 29 और 30 को पढ़ते समय उनका दायरा देखना ज़रूरी है। हर अधिकार किसे मिलता है और उसकी शर्तें क्या हैं, यह अलग हो सकता है। किसी अनुच्छेद का सिर्फ़ नंबर याद कर लेना शुरुआत है, लेकिन उसके शब्दों का मतलब समझना ज़रूरी है।

यह पड़ाव सिखाता है: भारत के मुसलमानों का कानूनी सफ़र सिर्फ़ व्यक्तिगत कानून का सफ़र नहीं है। वह नागरिकता, बराबरी, तालीम और साझा संस्थाओं का सफ़र भी है। किसी पुराने कानून को समझने के लिए संविधान से उसका रिश्ता देखना होगा। दावे को परखने के लिए पुराने आधार को याद रखना होगा। तभी समयरेखा तारीखों की कतार से आगे बढ़कर समझ का सहारा बनेगी।

1950 के बाद नए गणतंत्र ने नागरिक जीवन की ज़रूरतों के लिए कानून बनाए। विशेष विवाह अधिनियम, 1954 ने अपनी शर्तों के अनुसार विवाह का एक नागरिक रास्ता दिया। इसका नाम 1954 से जुड़ा है, जबकि इसके लागू होने की तारीख 1 जनवरी 1955 है। इससे समझ आता है कि अधिनियम के नाम में लिखा वर्ष और उसके प्रभावी होने का दिन हमेशा एक नहीं होते।

नागरिकता अधिनियम, 1955 ने नागरिकता हासिल करने और उससे जुड़े दूसरे सवालों का कानूनी ढाँचा रखा। संविधान की शुरुआती नागरिकता व्यवस्था और बाद के अधिनियम को साथ पढ़ना चाहिए। जन्म, वंश, पंजीकरण और देशीयकरण यानी तय शर्तों पर नागरिकता जैसे रास्तों के अपने नियम हैं। बाद के संशोधनों ने इनमें बदलाव भी किए। इसीलिए सिर्फ व्यक्ति के रहने की जगह या उसके मज़हब को देखकर नागरिकता का नतीजा निकालना ठीक नहीं होगा।

परिवार के आर्थिक सहारे की चर्चा में दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 अहम बनी। इसके अंतर्गत भरण-पोषण का रास्ता किसी एक मज़हब की पारिवारिक परंपरा तक सीमित नहीं समझा गया। फ़ैसलों में मुस्लिम तलाक़शुदा महिला और इस व्यवस्था का रिश्ता साफ़ हुआ। पुराने मामलों को पढ़ते समय संहिता का नाम मिलता है, इसलिए आज के पाठक को उस समय की कानूनी व्यवस्था समझनी चाहिए।

1985 में मोहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम का फ़ैसला इसी सिलसिले में आया। मामला एक तलाक़शुदा महिला के भरण-पोषण से जुड़ा था। निर्णय के बाद सार्वजनिक बहस हुई। अदालत के सामने रखे गए कानूनी सवाल और बाहर उठे राजनीतिक नारे अलग चीजें थे। फ़ैसले को समझने का भरोसेमंद तरीका उसके मूल पाठ और लागू प्रावधान देखना है। प्रचलित व्याख्या इसका विकल्प नहीं है।

इन वर्षों को देखते हुए विवाह, नागरिकता और भरण-पोषण को एक खाने में नहीं रखना चाहिए। तीनों नागरिक जीवन से जुड़े हैं, मगर तीनों के कानूनी सवाल और प्रक्रियाएँ अलग हैं। विवाह का सबूत नागरिकता का पूरा सबूत नहीं बन जाता। नागरिकता की बहस किसी महिला की रोज़मर्रा की सहायता को पीछे नहीं धकेल सकती। तारीखों के क्रम का लाभ तभी है जब हम विषयों का यह फ़र्क भी बनाए रखें।

शाह बानो के फ़ैसले के बाद मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 आया। इसमें उचित प्रावधान, यानी ज़रूरतों का इंतज़ाम, भरण-पोषण, मेहर तथा महिला को दी गई संपत्ति के सवाल रखे गए। इस पर बहस हुई। लेकिन उसके नाम से ही पूरी व्यवस्था का मतलब तय नहीं होता। उसके प्रावधान और उन पर आए न्यायालय के फ़ैसले साथ पढ़े बिना महिला के अधिकारों की तस्वीर अधूरी रह सकती है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 एक अहम पड़ाव बना। इसके आधार पर आयोग का कानूनी ढाँचा तैयार हुआ। अधिकारों की निगरानी, शिकायतों की जाँच और सरकार को सिफारिश जैसे काम उसके क्षेत्र में आए। इसे आम अदालत समझना गलत होगा। आयोग की रिपोर्ट, सरकार का जवाब और किसी मुकदमे में न्यायालय का आदेश अलग दस्तावेज़ हैं। इन्हें अलग पहचानने से संस्थाओं से हमारी उम्मीदें भी साफ़ होती हैं।

वक्फ़ अधिनियम, 1995 ने वक्फ़ से जुड़ी व्यवस्था का आधार दिया। बाद में इसमें संशोधन हुए, जिनमें 2013 और 2025 के बदलाव किताब की चर्चा से संबंधित हैं। किसी संपत्ति के मामले में अधिनियम का नाम बता देना काफ़ी नहीं। लागू पाठ, संबंधित रिकॉर्ड, बाद का संशोधन और न्यायालय का असर देखना पड़ता है। इतिहास की जानकारी ज़रूरी है, पर उससे मौजूदा विवाद तय नहीं होता।

28 सितंबर 2001 को दानियाल लतीफ़ी बनाम भारत संघ के फ़ैसले ने 1986 के कानून की व्याख्या की। अदालत ने इद्दत की अवधि के भीतर किए जाने वाले उचित प्रावधान को सिर्फ़ उसी अवधि के खर्च तक सीमित नहीं माना। भविष्य की ज़रूरतों का सवाल भी उसकी व्याख्या में शामिल था। इसलिए इद्दत के बाद हर आर्थिक ज़िम्मेदारी अपने आप खत्म हो जाने वाला कथन इस फ़ैसले का सही सार नहीं है।

इन पड़ावों में कानून बनने और उसकी न्यायिक व्याख्या का रिश्ता दिखाई देता है। भरण-पोषण की यात्रा और संस्थाओं से मिलने वाले संरक्षण की यात्रा आपस में जुड़ती हैं, मगर एक दूसरे की जगह नहीं लेतीं। पाठक तारीख के साथ विषय भी याद रखें। वही आदत आगे किसी नई खबर को पढ़ते हुए उसे सही कानूनी सिलसिले से जोड़ने में मदद देगी।

तालीम और अवसर के सवाल पर राष्ट्रीय अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्था आयोग अधिनियम, 2004 का नाम सामने आता है। यह अधिनियम संख्या 2, वर्ष 2005 के रूप में दर्ज है। नाम और अधिनियम संख्या के वर्ष में फ़र्क होने से दस्तावेज़ गलत नहीं हो जाता। आयोग का रिश्ता अल्पसंख्यकों के तालीमी अधिकारों से है। संस्था की स्थिति पर चर्चा करते समय उसके कायम होने और लागू व्यवस्था के दस्तावेज़ भी देखने होंगे।

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 सरकारी काम के रिकॉर्ड तक पहुँच का एक रास्ता बना। किसी योजना की घोषणा और उसके खर्च का रिकॉर्ड अलग हो सकता है। स्कूल की मंजूरी, भवन की प्रगति और भुगतान की स्थिति भी अलग दर्ज होती हैं। उपलब्ध सूचना माँगना इन्हें समझने में मदद दे सकता है। कानून में कुछ छूट और तय प्रक्रिया हैं; इसलिए इसे हर सवाल का तुरंत जवाब देने वाली व्यवस्था नहीं समझना चाहिए।

नवंबर 2006 की सच्चर समिति रिपोर्ट ने मुस्लिम समाज की सामाजिक, आर्थिक और पढ़ाई की स्थिति पर सरकारी अध्ययन सामने रखा। यह रिपोर्ट ऐतिहासिक दस्तावेज़ है, अधिनियम नहीं। उसकी सिफारिश कानून बनने या पूरी तरह लागू हो जाने का सबूत नहीं है। विभागवार सरकारी कार्रवाई को उसके रिकॉर्ड से देखना होगा। किसी सिफारिश का महत्व स्वीकारकर उसके अमल की जाँच करना भी ज़रूरी है।

27 जनवरी 2014 की केंद्रीय अधिसूचना से जैन समुदाय को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम के अंतर्गत अधिसूचित अल्पसंख्यकों में शामिल किया गया। इस संदर्भ में मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, पारसी और जैन समुदायों की केंद्रीय सूची मिलती है। भाषाई अल्पसंख्यक का सवाल इससे अलग संवैधानिक आधार रखता है। किसी राज्य के हालात या किसी संस्था की पात्रता पर नतीजा निकालते समय उस आधार को भुलाना नहीं चाहिए।

ये बताते हैं कि समाज की स्थिति समझने के लिए कानून, आयोग, रिपोर्ट और सूचना के रास्ते देखने पड़ते हैं। तालीम का अधिकार है, लेकिन उसके लिए स्कूल, साधन और प्रशासन भी चाहिए। एक रिपोर्ट समस्या की तस्वीर दिखा सकती है। सुधार का नतीजा जानने को बाद का सबूत चाहिए। तारीखें याद रखने के साथ यह रिश्ता समझना नागरिक निगरानी को मज़बूत बनाता है।

22 अगस्त 2017 को शायरा बानो मामले में सुप्रीम कोर्ट का फैसला आया। एक साथ तीन तलाक़ की जिस व्यवस्था पर निर्णय हुआ, उसे मुस्लिम विवाह और तलाक़ के कानून का खत्म हो जाना नहीं कहा जा सकता। फैसला पढ़ते समय अदालत के सामने का सवाल, अलग न्यायाधीशों की राय और आखिरी नतीजा देखना चाहिए। किसी फैसले का लोकप्रिय नाम उसकी कानूनी सीमा नहीं बताता।

2019 में मुस्लिम महिला (विवाह अधिकार संरक्षण) अधिनियम बना। कानून में परिभाषित तुरंत और वापस न हो सकने वाले तलाक़ की घोषणा को बेअसर और ग़ैरकानूनी रखा गया तथा उससे जुड़ी सज़ा और मदद के प्रावधान बने। 2017 का फैसला और 2019 का कानून अलग पड़ाव हैं। दोनों का रिश्ता है, मगर उनकी तारीख, स्रोत और कानूनी भूमिका एक नहीं है। महिला की सहायता का सवाल पढ़ते समय इस अंतर को बनाए रखना चाहिए।

नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019 उसी वर्ष अहम विषय था। इसका रिश्ता नागरिकता अधिनियम की विशेष व्यवस्था से है। इसे देश के सभी नागरिकों की स्थिति पर एक जैसा फैसला समझना गलत होगा। 2024 में इसके संबंधित नियम आए। अधिनियम की पात्रता, नियमों की प्रक्रिया और किसी आवेदन पर होने वाला निर्णय अलग अवस्थाएँ हैं। व्यक्ति की स्थिति इन्हें पढ़े बिना सिर्फ़ खबर के आधार पर तय नहीं की जा सकती।

10 जुलाई 2024 को मोहम्मद अब्दुल समद बनाम तेलंगाना राज्य के फैसले ने मुस्लिम तलाक़शुदा महिला के लिए आम भरण-पोषण का महत्व साफ़ किया। उसी वर्ष नई भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता की व्यवस्था प्रभावी हुई, जिसमें भरण-पोषण का संबंधित प्रावधान धारा 144 है। पुराने मुकदमों में कौन सा कानून चलता रहेगा, यह भी देखना होगा। हर पुराने मुकदमे में नई धारा लगाने से सही समझ नहीं बनेगी।

इन पड़ावों में अदालत, संसद और नियम बनाने वाली सरकार की भूमिकाएँ अलग दिखाई देती हैं। निर्णय कानून समझा सकता है। संसद नया अधिनियम बना सकती है। नियम उस व्यवस्था की प्रक्रिया समझा सकते हैं। पाठक जब किसी खबर में इन तीनों के नाम सुनता है, तो उसे पहले पहचानना चाहिए कि असल में बदला क्या है। यही सवाल गलतफहमियाँ कम करता है।

2025 और 2026 के पड़ावों पर आते हुए दस्तावेज़ों और तारीखों की पहचान ज़रूरी है। वक्फ़ के 2025 के संशोधन पर 15 सितंबर 2025 को सुप्रीम कोर्ट ने अंतरिम निर्देश दिए। पूरे अधिनियम पर रोक नहीं लगी, जबकि कुछ मुद्दों पर राहत और निर्देश रहे। इसे कानून के संविधान के मुताबिक सही या गलत होने का आखिरी फ़ैसला कहना ठीक नहीं है। अंतरिम आदेश का अपना दायरा होता है।

बाद की अदालती कार्यवाही पढ़ते समय मूल आदेश और कार्यालय रिकॉर्ड का फ़र्क़ पहचानना ज़रूरी है। अगली सुनवाई की तारीख़ बताने वाला रिकॉर्ड उस दिन दिए गए नए आदेश का प्रमाण नहीं होता। किसी खास ज़मीन या संपत्ति के विवाद की स्थिति संबंधित मूल आदेश से ही समझनी चाहिए। उसे देश की हर वक्फ़ संपत्ति का आखिरी निर्णय नहीं माना जा सकता।

उत्तराखंड की समान नागरिक संहिता से जुड़े 2025 के नियम और 2026 का संशोधन राज्य की कानूनी यात्रा के पड़ाव हैं। इनके आधार पर यह कहना कि उसी व्यवस्था का हर प्रावधान भारत में लागू हो गया, सही नहीं होगा। लागू क्षेत्र, व्यक्ति, अपवाद और विषय पढ़ने पड़ेंगे। राज्य के दस्तावेज़ को राष्ट्रीय कानून की तरह पेश करने से परिवारों में भ्रम हो सकता है।

19 अगस्त 2026 के नागरिकता (तृतीय संशोधन) नियमों में बताए गए क्षेत्रों के लिए धारा 6B के आवेदन पर कलेक्टर की भूमिका संबंधी व्यवस्था आई। प्रक्रिया का यह बदलाव मूल अधिनियम की देश, समुदाय और तारीख़ वाली पात्रता बदल जाने का सबूत नहीं है। इसी वर्ष जारी किसी तालीमी रिपोर्ट का अध्ययन वर्ष भी पहले का हो सकता है। कानून और ऑकड़े, दोनों में तारीख़ का मतलब पहचानना ज़रूरी है।

यह समयरेखा 5 अक्टूबर 2026 तक इस पुस्तक में इस्तेमाल किए गए चुने हुए दस्तावेज़ों का रिश्ता दिखाती है। इसे हर मुकदमे, राज्य और संपत्ति की पूरी सूची नहीं समझें। पाठक आगे की नई खबर पढ़ें, तो उसका मूल दस्तावेज़ और बाद का आदेश भी देखें। किताब इतिहास और समझ का सहारा दे सकती है। बदलती हुई व्यवस्था से रिश्ता बनाए रखने के लिए दस्तावेज़ पढ़ने की आदत चाहिए।

परिशिष्ट दो – कानूनी शब्दों की आसान व्याख्या

कानून की भारी भाषा से आदमी अपना कानूनी सवाल पूछने से झिझकता है। इस शब्दावली का मक़सद उस झिझक को कम करना है। यहाँ किताब में आए लफ़्ज़ों का मतलब समझाया गया है। किसी अधिनियम में दी गई परिभाषा ज़्यादा विस्तृत हो सकती है। इसलिए आसान मतलब को शुरुआती पहचान मानें और विवाद होने पर संबंधित प्रावधान तक जाएँ।

संविधान देश की मूल कानूनी व्यवस्था का आधार है। उसमें शासन की संस्थाएँ, उनकी शक्तियाँ और अधिकारों का ढाँचा मिलता है। संविधान में नंबर के साथ दिए गए प्रावधान को अनुच्छेद कहते हैं। आम अधिनियम के प्रावधान को आमतौर पर धारा कहा जाता है। संविधान का अनुच्छेद 14 और किसी अधिनियम की धारा 14 अलग संदर्भ हैं। सिर्फ़ नंबर बताने के बजाय दस्तावेज़ का नाम साथ बताने से बात साफ़ होती है।

विधेयक कानून बनाने का प्रस्ताव है। उसके पेश होने और अधिनियम बनने में फ़र्क़ है। अधिनियम बनने के बाद भी कुछ प्रावधानों के लागू होने की तारीख़ अलग हो सकती है। नियम अधिनियम से मिली ताक़त के अंतर्गत प्रक्रिया और दूसरे विवरण बताते हैं। हर नियम मनमाने ढंग से मूल कानून का मतलब बदल देने की ताक़त नहीं रखता। पढ़ते समय उसके आधार और सीमा को पहचानना चाहिए।

अधिसूचना सरकारी तौर पर जारी सूचना या आदेश का रूप है। उसका असर उस ताक़त और विषय पर निर्भर है जिसके अंतर्गत वह जारी हुई है। राजपत्र सरकार का ऐसा आधिकारिक प्रकाशन है जिसमें कानून, अधिसूचनाएँ और दूसरे सरकारी दस्तावेज़ मिलते हैं। किसी ख़बर में राजपत्र का ज़िक्र सुनकर संबंधित संख्या और तारीख़ देखना उपयोगी है। तभी पता चलता है कि ख़बर किस दस्तावेज़ की बात कर रही है।

संशोधन किसी पहले से मौजूद व्यवस्था में किया गया परिवर्तन है। वह पूरे कानून को नया बना दे, यह ज़रूरी नहीं। कुछ शब्द जुड़ सकते हैं, कोई धारा बदल सकती है या कोई प्रावधान हट सकता है। पुराने पाठ पर नए संशोधन का असर मिलाकर पढ़ना पड़ता है। इन बुनियादी लफ़्ज़ों की पहचान हो जाए, तो कानूनी चर्चा में आदमी साफ़ सवाल पूछ सकता है और जवाब का मतलब समझ सकता है।

मौलिक अधिकार संविधान के भाग तीन में दिए गए अधिकार हैं। वे सिर्फ़ भाषण की अच्छी बातें नहीं हैं। संविधान उनकी रक्षा के लिए अदालत का रास्ता भी देता है। मगर हर अधिकार का दायरा और उसकी सीमा समझनी पड़ती है। बराबरी, आज़ादी और मज़हबी अधिकार के अनुच्छेद अलग विषयों से संबंधित हैं। एक अधिकार के नाम पर दूसरे की इज़्ज़त को भुला देना सही संवैधानिक समझ नहीं है।

नीति निदेशक तत्व संविधान के भाग चार में राज्य के लिए रास्ता दिखाने वाले सिद्धांत हैं। अनुच्छेद 37 उन्हें न्यायालय से सीधे लागू कराने योग्य नहीं बताता, लेकिन शासन में उनका महत्व स्वीकार करता है। अनुच्छेद 44 की समान नागरिक संहिता की चर्चा इसी हिस्से में आती है। किसी नीति निदेशक तत्व का होना और उस विषय पर लागू अधिनियम का बन जाना अलग बातें हैं। दोनों को मिलाने से कानून की मौजूदा स्थिति उलझती है।

धर्मनिरपेक्षता की आसान समझ यह है कि सार्वजनिक शासन में नागरिकों के साथ संवैधानिक बराबरी और इंसाफ़ का रिश्ता रखा जाए। इसका मतलब किसी नागरिक को अपना धर्म छोड़ने का आदेश नहीं है। मज़हबी आज़ादी भी अपनी संवैधानिक सीमाओं के साथ है। इसलिए सरकारी दखल की स्थिति को एक जवाब से नहीं समझा जा सकता। सवाल और उससे संबंधित अनुच्छेद देखने होंगे।

अल्पसंख्यक शब्द मज़हबी और भाषाई दोनों संदर्भों में आता है। राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की केंद्रीय अधिसूचना और किसी पढ़ाई की संस्था की कानूनी स्थिति का सवाल हमेशा एक जैसा नहीं होता। राज्य और संबंधित कानून भी महत्व रखते हैं। आरक्षण का आधार इससे अलग हो सकता है। अल्पसंख्यक होने से हर व्यक्ति हर पिछड़ा वर्ग सूची या आरक्षित श्रेणी में शामिल नहीं हो जाता।

विधि का शासन उस व्यवस्था की बात करता है जिसमें अधिकार और कार्रवाई कानून के आधार पर हों। उसका मतलब है कि अधिकारी का निर्णय उसकी अपनी पसंद पर न टिका रहे। नागरिक कारण पूछ सके और उपलब्ध रास्ते से निर्णय को चुनौती दे सके। यह विचार किताब से निकलकर स्कूल, दफ़्तर और थाने तक पहुँचता है। तभी संविधान आम आदमी की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में मतलब पाता है।

याचिका न्यायालय से कानूनी राहत माँगने के लिए दिया गया आवेदन है। कौन सा रास्ता अपनाया गया है, यह उसके नाम और संबंधित प्रावधान से साफ़ होता है। रिट संवैधानिक न्यायालय द्वारा जारी होने वाले आदेश का रूप है। हर शिकायत रिट का सही मामला नहीं बनती। आम शिकायत, वैधानिक अपील और संवैधानिक याचिका के रास्तों का अंतर जानना सही मंच तक पहुँचाता है।

नोटिस का आम मतलब संबंधित व्यक्ति को सूचना देना है कि उससे जवाब माँगा गया है या बुलाया गया है। नोटिस जारी होने का मतलब यह नहीं कि आरोप साबित हो गया। अदालत ने दूसरे पक्ष को सुनने का अवसर दिया हो सकता है। इसी तरह किसी अधिकारी से रिपोर्ट माँगना आखिरी नतीजा नहीं है। खबर में नोटिस शब्द पढ़कर किसी व्यक्ति या संस्था को दोषी घोषित करना अनुचित होगा।

अंतरिम आदेश मामले के आखिरी निपटारे से पहले की व्यवस्था है। स्थगन या रोक का असर आदेश में बताए गए विषय और सीमा तक समझना चाहिए। किसी धारा पर रोक को पूरे अधिनियम पर रोक नहीं बनाया जा सकता। अंतरिम राहत को आखिरी जीत कहना भी जल्दबाजी होगी। आदेश में क्या रोका गया, किसके लिए रोका गया और कौन सा सवाल खुला रखा गया, ये बातें साथ पढ़नी चाहिए।

निर्णय और आदेश न्यायालय के दस्तावेज़ हैं; उनका असर उनके पाठ से समझ आता है। अपील किसी निर्णय को ऊपरी मंच पर चुनौती देने का रास्ता है। समीक्षा उसी न्यायालय में तय आधारों पर दोबारा विचार माँगने की एक प्रक्रिया हो सकती है। अपील दायर होना पहले आदेश पर रोक नहीं लगा देता। उपलब्ध राहत और उसके लिए किए गए आवेदन को अलग देखना पड़ता है।

अधिकार क्षेत्र का मतलब उस सीमा से है जिसके भीतर कोई अदालत या संस्था विषय सुन सकती है। साक्ष्य वह सामग्री है जिससे तथ्य की जाँच होती है। खबर, निजी दावा और प्रमाणित रिकॉर्ड की भूमिका एक जैसी नहीं होती। मुकदमा समझने के लिए यह फ़र्क़ ज़रूरी है। अपनी बात कहते हुए तारीख, दस्तावेज़ और घटनाक्रम साफ़ रखने से सहायता करने वाले व्यक्ति को भी सवाल समझने में आसानी होती है।

भरण-पोषण यानी गुज़ारा भत्ता ज़रूरतों के लिए आर्थिक सहारा है। संबंधित कानून में उसके लाभ पाने वाले, शर्तें और प्रक्रिया देखनी होती है। मेहर विवाह से जुड़ा महिला का अधिकार है; उसे भरण-पोषण की पूरी जगह लेने वाली रकम समझना सही नहीं। इद्दत एक तय इंतज़ार की अवधि का नाम है, जिसका विवरण स्थिति के अनुसार पढ़ना पड़ता है। इन शब्दों की पहचान से परिवार की आखिरी देनदारी तय नहीं होगी।

वक्फ़ के संदर्भ में संपत्ति को मज़हबी या समाज की भलाई के मक़सद से समर्पित किए जाने की व्यवस्था समझी जाती है। मुतवल्ली उसके प्रबंधन से संबंधित व्यक्ति होता है। देखरेख की ज़िम्मेदारी और निजी मालिकाना अधिकार एक ही बात नहीं हैं। ज़मीन पर वक्फ़ का दावा हो, तो पहचान, रिकॉर्ड और लागू कानून देखना होगा। नाम सुनकर ही संपत्ति की स्थिति तय कर देना काफ़ी नहीं है।

पात्रता का मतलब किसी सुविधा या व्यवस्था की शर्तों पर योग्य होना है। आवेदन, मंजूरी और भुगतान उसके बाद की अलग अवस्थाएँ हैं। बजट अनुमान सरकार का पैसे का प्रस्ताव दिखाता है। वह पूरी रकम खर्च हो जाने का सबूत नहीं है। छात्रवृत्ति, ऋण और विकास परियोजना की चर्चा में ये शब्द आते हैं। फ़र्क़ रहे, तो घोषणा को नतीजा समझने की भूल कम होगी।

आरक्षण में OBC, SC, ST और EWS अलग कानूनी श्रेणियाँ हैं। उनके आधार और पात्रता अलग हैं। केंद्रीय सूची और राज्य सूची का फ़र्क़ भी महत्व रखता है। गैर क्रीमी लेयर का सवाल पिछड़ा वर्ग की संबंधित व्यवस्था से जुड़ा है। किसी समुदाय का नाम, प्रमाणपत्र और इस्तेमाल का मक़सद साथ देखना पड़ता है। पुराने उदाहरण को हर राज्य और हर व्यक्ति के लिए आखिरी पात्रता नहीं मानना चाहिए।

विधिक सहायता कानूनी जानकारी, प्रतिनिधित्व और संबंधित मदद की व्यवस्था है। पात्र व्यक्ति जिला विधिक सेवा प्राधिकरण से सहायता माँग सकता है। महिलाओं के लिए कानून में पात्रता का आधार है; दूसरी श्रेणियों की अपनी शर्तें हैं। इंसान तक पहुँच सिर्फ़ कानून पढ़ लेने से पूरी नहीं होती। भाषा, खर्च और सही जगह पहुँचने की मुश्किल दूर करनी पड़ती है। यह शब्दावली उसी पहुँच की शुरुआत है।

परिशिष्ट तीन – मूल दस्तावेज़ और स्रोत सूची

पहला मूल स्रोत भारत का संविधान है। संविधान के अनुच्छेद 14 से 16 बराबरी और सार्वजनिक अवसर की चर्चा में आते हैं। अनुच्छेद 21 जीवन और व्यक्तिगत आज़ादी से जुड़ा है। अनुच्छेद 25 मज़हबी आज़ादी का आधार देता है। अनुच्छेद 29 और 30 भाषा, संस्कृति तथा अल्पसंख्यक तालीम के सवाल में पढ़े गए हैं। स्रोत देखते समय शीर्षक के साथ संस्करण की तारीख भी लिखकर रखना चाहिए।

इसमें विधायी विभाग का 1 मई 2024 तक का सरकारी संविधान संस्करण इस्तेमाल हुआ है, जिसकी प्रति आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की वेबसाइट पर उपलब्ध है। इसे पढ़ते समय बाद के किसी नए संशोधन का सवाल अलग से देखना होगा। हिंदी और अंग्रेज़ी में दिया गया पाठ मतलब समझने में मदद करता है। कानूनी मतलब समझते समय अनुवाद का छोटा फर्क भी देखना जरूरी है।

संविधान सभा की बहसों संवैधानिक विचारों की पृष्ठभूमि समझने के लिए उपयोगी हैं। बहस में कही गई हर बात अपने आप लागू अनुच्छेद नहीं है। सदस्य का तर्क, किसी प्रस्ताव पर चर्चा और आखिर में अपनाया गया पाठ अलग अवस्थाएँ हैं। इसलिए भाषण की पंक्ति से मौजूदा अधिकार की सीमा तय नहीं करनी चाहिए। संविधान के प्रावधान को सामने रखना होगा।

संसद का आधिकारिक परिचय संविधान अपनाने और लागू होने की तारीखों का आधार भी देता है। 26 नवंबर 1949 और 26 जनवरी 1950 की पहचान अलग रखी गई है। राजपत्र किसी अधिनियम या अधिसूचना की सरकार से जारी प्रति तक पहुँचने का स्रोत है। विधायी विभाग और India Code कानूनों के पाठ खोजने में सहायक हैं। दस्तावेज़ के नाम, वर्ष और संबंधित धारा को साथ खोजने से समान शीर्षकों का भ्रम कम होता है।

पाठक के लिए उपयोगी आदत यह होगी कि वह पढ़े हुए प्रावधान की प्रति संभालकर रखे। सिर्फ वेबसाइट का पता लिखना काफी नहीं, क्योंकि वेबसाइट पर पन्ने की जगह बदल सकती है। दस्तावेज़ का नाम और तारीख खोजने में मदद देते हैं। किताब में दी गई व्याख्या विषय को समझने का रास्ता है। जहाँ अधिकार या ज़िम्मेदारी का ठोस सवाल हो, वहाँ मूल प्रावधान तक लौटना उसी समझ को मज़बूत करता है।

संविधानसभा की कार्यवाही में 27 अगस्त 1947 की अल्पसंख्यक संबंधी सलाहकार समिति की रिपोर्ट पर बहस और 25 मई 1949 की अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व पर बहस संबंधित ऐतिहासिक स्रोत हैं। इनका आधिकारिक आधार संसद का डिजिटल पुस्तकालय है।

पारिवारिक कानून के स्रोतों में मुस्लिम पर्सनल लॉ शरीयत एप्लिकेशन अधिनियम, 1937 और मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम, 1939 अहम हैं। पहला अपने बताए विषयों में व्यक्तिगत कानून के इस्तेमाल से जुड़ा है। दूसरा मुस्लिम महिला के अदालत से विवाह खत्म कराने के आधारों से संबंधित है। 1939 के कानून में मेहर के अधिकार का सवाल भी मिलता है। आसान परिचय के बाद धारा पढ़ने से समझ बढ़ती है।

विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की आधिकारिक प्रति विवाह के नागरिक रास्ते को समझने का स्रोत है। इसमें विवाह की शर्तें, प्रक्रिया और नतीजे अलग हिस्सों में हैं। हर पंजीकरण को इसी अधिनियम की प्रक्रिया मान लेना उचित नहीं। किस व्यवस्था के अंतर्गत विवाह हुआ है, यह पहचानना होगा। किताब सामाजिक रिश्ता बताती है; पूरे आवेदन की स्थानीय प्रक्रिया उसके दस्तावेज़ से मिलेगी।

भरण-पोषण के कानूनी स्रोतों में मुस्लिम स्त्री (विवाह विच्छेद पर अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 1986 और आम भरण-पोषण के प्रावधान शामिल हैं। संबंधित न्यायिक संदर्भ हैं: मोहम्मद अहमद खान बनाम शाह बानो बेगम, 1985; दानियाल लतीफी बनाम भारत संघ, 2001; शबाना बानो बनाम इमरान खान, 2009; और मोहम्मद अब्दुल समद बनाम तेलंगाना राज्य, 2024। इन फैसलों को उनके अपने सवाल, लागू कानून और निष्कर्ष के साथ पढ़ना चाहिए। किसी फैसले में पुराने मामले का उल्लेख उस पुराने निर्णय को नया फैसला नहीं बना देता।

मुस्लिम महिला (विवाह अधिकार संरक्षण) अधिनियम, 2019 कानून में परिभाषित तत्काल और अपरिवर्तनीय तलाक़ की घोषणा से संबंधित है। इसके प्रावधानों को 1986 के अधिनियम से मिलाकर एक कानून नहीं समझना चाहिए। दोनों के नामों में अधिकार संरक्षण का उल्लेख है, लेकिन उनके विषय अलग हैं। दस्तावेज़ चुनते समय पूरा नाम और वर्ष पढ़ना ज़रूरी है। यह सावधानी गलत व्याख्या से बचाती है।

भारतीय नागरिक सुरक्षा संहिता, 2023 की धारा 144 पत्नी, बच्चों और माता-पिता के भरण-पोषण से संबंधित है। इसकी धारा 531 में पुरानी लंबित कार्यवाहियों के लिए बचाव संबंधी प्रावधान हैं। इसलिए किसी पारिवारिक मामले में आवेदन या कार्यवाही की तारीख और लागू प्रक्रिया अहम हैं। इन दोनों धाराओं को उनके संबंधित विषय के साथ पढ़ना चाहिए। स्रोतों की यह सूची कानूनों का रिश्ता समझाने के लिए है। किसी व्यक्ति के आवेदन, दस्तावेज़ और राहत की स्थिति उसके पूरे हालात देखकर समझी जाएगी।

वक्त्रफ़ के विषय में मूल अधिनियम, उसके संशोधन और न्यायालय के आदेश तीन अलग स्रोत हैं। वक्त्रफ़ अधिनियम, 1995 तथा उसके बाद के बदलावों को साथ पढ़ने से व्यवस्था की यात्रा समझ आती है। 2025 के संशोधन की चर्चा में पुराने पाठ से तुलना उपयोगी है। पुराने नाम वाली प्रति देखकर यह मान लेना कि उसमें हर बदलाव जुड़ा है, सही नहीं होगा। संस्करण की पहचान यहाँ महत्व रखती है।

15 सितंबर 2025 के सुप्रीम कोर्ट आदेश का संदर्भ 2025 INSC 1116 है। आदेश का आखिरी निर्देश वाला हिस्सा, खासकर पैरा 209, अंतरिम व्यवस्था समझने के लिए ज़रूरी है। उसमें पूरे अधिनियम पर रोक न लगने और सीमित निर्देशों का अंतर देखा गया है। निर्णय के भीतर पक्षकारों के तर्क भी होते हैं। हर तर्क को अदालत का स्वीकार किया हुआ नतीजा मान लेने से आदेश का मतलब बदल सकता है।

वक्त्रफ़ मामलों की बाद की स्थिति समझने के लिए संबंधित मूल न्यायालय आदेश देखना ज़रूरी है। सुनवाई की तारीख वाला कार्यालय रिकॉर्ड नए न्यायिक निर्देश का विकल्प नहीं है। दोबारा प्रकाशित किसी पाठ का इस्तेमाल करते समय अदालत, मामले की पहचान और तारीख मूल आदेश से मिलाएँ। संपादकीय सार को असल आदेश की जगह न रखें।

नागरिकता के लिए नागरिकता अधिनियम, 1955, उसका 2019 का संशोधन और संबंधित नियम मूल स्रोत हैं। गृह मंत्रालय द्वारा उपलब्ध संबंधित राजपत्र प्रति प्रक्रिया के बदलाव समझने में मदद देती है। 19 अगस्त 2026 के तृतीय संशोधन नियमों को विशेष आवेदन में कलेक्टर की भूमिका के सवाल पर पढ़ा गया है। इसे मूल पात्रता की हर शर्त बदल देने वाला नया अधिनियम नहीं बताया गया है।

उत्तराखंड की समान नागरिक संहिता के स्रोतों में राज्य का आधिकारिक पोर्टल, 2025 के नियम और संबंधित संशोधन शामिल हैं। इनमें समान नागरिक संहिता, उत्तराखंड (संशोधन) अधिनियम, 2026 की 7 अप्रैल 2026 की अधिसूचना संख्या 101/XXXVI(3)/2026/32(1)/2026 भी है। इसकी पहचान राज्य के आधिकारिक पोर्टल ucc.uk.gov.in की सरकारी आदेश सूची में उपलब्ध है। किसी परिवार पर कानून का असर समझने के लिए मूल अधिनियम, लागू नियम, संशोधन और संबंधित अपवाद साथ पढ़ने होंगे। केवल अधिसूचना का नाम जान लेना हर व्यक्तिगत मामले का जवाब नहीं है।

राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की भूमिका का स्रोत राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम, 1992 है। आयोग की वेबसाइट पर उपलब्ध प्रति से उसके काम और शक्तियों को समझा गया है। समुदायों की केंद्रीय अधिसूचना अलग दस्तावेज़ है। जैन समुदाय को शामिल करने की 27 जनवरी 2014 की अधिसूचना इसी सिलसिले में है। आयोग के कायम होने, सरकार से घोषित समुदाय और शिकायत की प्रक्रिया को एक सवाल नहीं समझना चाहिए।

अल्पसंख्यक तालीमी संस्थाओं की चर्चा में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्था आयोग का आधिकारिक परिचय और संबंधित अधिनियम उपयोगी स्रोत हैं। संस्था का दावा, अधिकार रखने वाले अधिकारी का निर्णय और न्यायालय में उठी चुनौती अलग रिकॉर्ड रखते हैं। नाम में मुस्लिम पहचान होने से संस्था की कानूनी स्थिति तय नहीं हो जाती। दस्तावेज़ अहम हैं। ये दस्तावेज़ पहचान और वैधानिक स्थिति का फ़र्क़ समझने में मदद करते हैं।

पिछड़े वर्ग की केंद्रीय सूची राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग की आधिकारिक वेबसाइट और राज्य की सूची संबंधित राज्य के आधिकारिक स्रोत पर देखी जाती है। पुरानी सलाह मौजूदा सूची का विकल्प नहीं है। इस विषय के संवैधानिक स्रोतों में अनुच्छेद 338B, अनुच्छेद 342A, 102वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 2018 और 105वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 2021 शामिल हैं। आयोग के संवैधानिक दर्जे और सूची बनाने की शक्तियों को अलग समझना चाहिए। किसी व्यक्ति की पात्रता संबंधित आवेदन, लागू सूची में दर्ज समुदाय और अन्य आवश्यक शर्तों के अनुसार तय होगी।

अनुसूचित जाति की मज़हबी शर्त के लिए संविधान (अनुसूचित जातियाँ) आदेश, 1950 का पैरा 3 मूल स्रोत है। संबंधित समुदाय और क्षेत्र की पात्रता के लिए आदेश की लागू सूची भी देखनी होगी। सामाजिक अनुभव और कानूनी श्रेणी का रिश्ता समझते समय इन दोनों बातों को साथ रखना ज़रूरी है। अनुसूचित जनजाति और आर्थिक रूप से कमज़ोर वर्ग की व्यवस्थाएँ अलग आधार रखती हैं। किसी लंबित माँग, अध्ययन या याचिका से लागू कानून अपने आप नहीं बदलता। बदलाव का दावा हो, तो संबंधित वैधानिक संशोधन या न्यायालय के प्रभावी आदेश की पुष्टि करनी चाहिए।

योजनाओं के स्रोत में मंत्रालय के सरकारी जवाब, दिशानिर्देश, बजट और आवेदन की सूचना अलग हैं। योजना का पुराना विवरण उसकी मौजूदा आवेदन अवधि का सबूत नहीं है। बजट अनुमान असल भुगतान नहीं है। लाभ पाने वाले की पात्रता और परियोजना की मंजूरी भी अलग हो सकती है। इस किताब में इन दस्तावेज़ों का उपयोग सार्वजनिक ज़िम्मेदारी समझने के लिए हुआ है। व्यक्तिगत आवेदन के लिए संबंधित सूचना देखनी होगी।

सामाजिक अध्ययन का एक प्रमुख स्रोत नवंबर 2006 की सच्चर समिति रिपोर्ट है, जिसका अंग्रेज़ी शीर्षक Social, Economic and Educational Status of the Muslim Community of India है। किताब में साक्षरता और सरकारी सेवाओं में हिस्सेदारी की ऐतिहासिक चर्चा इसी रिपोर्ट से जुड़ी है। 2001 की मुस्लिम साक्षरता दर के लिए शिक्षा मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट 2013-14 भी सहायक स्रोत है। सच्चर समिति के प्रमुख निष्कर्ष लोकसभा के 9 मार्च 2016 के अतारांकित प्रश्न संख्या 1859 के उत्तर के परिशिष्ट एक में भी उपलब्ध हैं। रिपोर्ट जारी होने का वर्ष और उसके आँकड़ों का वर्ष अलग हो सकते हैं; इसलिए पुराने आँकड़ों को वर्तमान स्थिति नहीं मानना चाहिए।

आबादी के लिए 2011 की मज़हबवार तालिका और रजिस्ट्रार जनरल का आधिकारिक विवरण आधार हैं। मुस्लिम आबादी का लगभग 17.22 करोड़ और 14.2 प्रतिशत वाला ज़िक्र इसी गिनती से जुड़ा है। इसे 2026 की गिनती नहीं बनाया गया है। जनगणना 2027 की तैयारी संबंधी सरकारी सूचना अलग दस्तावेज़ है। गणना का कार्यक्रम घोषित होना और उसके नतीजे जारी होना दो अलग अवस्थाएँ हैं।

उच्च शिक्षा के आँकड़ों का स्रोत शिक्षा मंत्रालय की अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण रिपोर्ट, AISHE 2023-24 है। मुस्लिम विद्यार्थियों और छात्राओं के अनुमानित नामांकन के लिए तालिका 15 तथा नामांकन में छात्राओं के हिस्से के लिए खंड 2.2.2 और चित्र 12 देखें। कुल मुस्लिम नामांकन 22,52,799 और छात्राओं का नामांकन 11,65,295 दर्ज है। छात्राओं का हिस्सा लगभग 51.7 प्रतिशत है। यह सभी मुस्लिम महिलाओं की उच्च शिक्षा पहुँच की दर नहीं है। रिपोर्ट 8 जुलाई 2026 को जारी हुई, जबकि आँकड़ों का अध्ययन वर्ष 2023-24 है।

श्रम और रोज़गार के लिए सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय की PLFS 2023-24 रिपोर्ट का ढाँचा देखा गया है। काम करने या काम तलाशने वालों की भागीदारी, काम करने वाले व्यक्तियों का अनुपात और बेरोज़गारी दर अलग हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्र तथा महिला और पुरुष की स्थिति अलग हो सकती है। जिस प्रतिशत का उम्र का आधार साफ़ न हो, उससे तुलना नहीं करनी चाहिए। किताब में बिना जाँच के मज़हबवार दरें नहीं जोड़ी गईं।

आँकड़ों का सही उपयोग सवाल साफ़ करने में है। एक संख्या से परिवार की स्थिति या किसी समस्या का पूरा कारण साबित नहीं होता। अध्ययन का वर्ष, नमूना, परिभाषा और तुलना का आधार देखें। जहाँ जानकारी नहीं मिली, वहाँ अनुमान को सबूत बनाकर नहीं रखा गया। पाठक भी अगली रिपोर्ट पढ़ते हुए यही सावधानी अपनाएँ, तो चर्चा शिकायत और दावे से आगे बढ़कर समझ तक पहुँच सकती है।

मूल स्रोत तक पहुँचने के लिए पूरा नाम खोजें। कानून के लिए India Code और विधायी विभाग, न्यायालय के आदेश के लिए संबंधित अदालत, आँकड़ों के लिए ज़िम्मेदार विभाग और योजनाओं के लिए संबंधित मंत्रालय का स्रोत देखें। राजपत्र की संख्या और तारीख पहचान को साफ़ बनाती हैं। दोबारा छपे न्यायालय पाठ में मामले का नाम और निर्णय की तारीख मिलाना ज़रूरी है।

दस्तावेज़ मिले, तो उसका शीर्षक और वर्ष पढ़ें। फिर वह हिस्सा खोजें जिससे आपका सवाल जुड़ा है। किसी फ़ैसले में मुकदमे के पक्ष का तर्क, पहले फ़ैसले से ली गई बात और अदालत का अपना नतीजा अलग हो सकते हैं। रिपोर्ट में प्रस्तावना, मुख्य नतीजे और तालिका का आधार अलग जगह मिल सकता है। पंक्ति चुनकर मतलब तय करने से पहले उसके आसपास का पाठ पढ़ना चाहिए।

जहाँ कानूनी मदद चाहिए, वहाँ विधिक सेवा संस्थाओं की जानकारी भी उपयोगी है। राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण की आधिकारिक जानकारी में पात्रता और सहायता के रास्ते बताए गए हैं। जिला विधिक सेवा प्राधिकरण तक पहुँचना स्थानीय सहायता का एक रास्ता है। महिलाओं की पात्रता का अलग कानूनी आधार है। दूसरे व्यक्तियों के लिए संबंधित श्रेणी और शर्तें देखी जाती हैं। सहायता माँगते समय सवाल और दस्तावेज़ साफ़ रखना मदद करता है।

यह सूची पाठक को मूल आधार तक पहुँचाने के लिए है। किताब के दावे का आधार पूछना उसका हक़ है। लेखक की राय और दस्तावेज़ में दर्ज बात के बीच फ़र्क़ बना रहे, तभी भरोसा कायम रहता है। किसी दावे की पुष्टि करते समय संबंधित मूल दस्तावेज़, उसका वर्ष और उससे जुड़ी धारा, तालिका या न्यायालय का आदेश देखना ज़रूरी है। किसी रिपोर्ट के चुने हुए हिस्से का उल्लेख उसके सभी निष्कर्षों का सार नहीं है।

किसी दावे का आधार खोजना हो, तो दस्तावेज़ का पूरा नाम, तारीख और संबंधित हिस्सा साथ रखें। बाद का संशोधन या आदेश हो तो उसे भी पढ़ें। इस तरह स्रोत को पहचानना और किताब की बात का आधार समझना आसान होगा।

अधिकार की समझ, इंसाफ़ की उम्मीद

आज़ादी से आज तक संविधान, कानून और
न्यायालयों के फैसलों के बीच हिंदुस्तानी
मुसलमानों के अधिकारों की यात्रा। यह
किताब बराबरी, धार्मिक स्वतंत्रता, शिक्षा
और बदलते कानूनी सवालों को सहज भाषा
में समझने की कोशिश है।



डॉ. सैयद नासिर शाह

Qalamse.com